सरयु के तट

महामुनि याज्ञवल्क, बाल्मीकि
तथा
नाना ऋषियों द्वारा मुखरित
श्रीराम-कथा-रहस्य

प्रत्येक युग की कथा !

कथा ! जन-जन की !

मूल्य रु० २५/-

सरयु के तट

श्रीराम कथा में तत्व, अध्यात्म, रहस्य तथा भक्ति, ज्ञान, वैराग्य के अनुपम मोती

★

प्रवर्णितम्

श्री स्वामी सनातन श्री

★

—: सम्पादक :—

श्री हरिनाथ प्रसाद वर्मा

श्री धनंजय कुमार कुटेमाटे

श्री राजेन्द्र पाण्डेय

★

निष्काम पीठ प्रकाशन (प्रा०लि०)

श्री सनातन आश्रम,

गौराबाग, कुर्सी रोड,

लखनऊ–२२६००७

फोन : ७३७६७

मूल्य २५ रुपया

प्रथम संस्करण–
रामनवमी सम्वत् २०४२

द्वितीय संस्करण–
ज्येष्ठ कृष्ण ३ सम्वत २०४७

★

★

मुद्रक :–
समुद्रक प्रिन्टर्स
श्री सनातन आश्रम,
गौराबाग, कुर्सी रोड
लखनऊ–७
दूरभाष : 73797

-: विषय सूची :-

आभार

'सरयु के तट' पुस्तक तथा अन्य ग्रन्थों के प्रकाशन में बहुत से मित्रों एवं भक्त समाज का वन्दनीय सहयोग रहा है। उन सबके व्यापक सहयोग से **'आदि भारती'** मासिक पत्रिका तथा अन्य प्रकाशन कार्य सम्पन्न हो रहे हैं। उन सबका आभारी हूँ!

एक अद्भुत सन्त, निष्काम कर्म योगी, अन्तरंग सखा, श्री माँ राणी सती धाम अमरावती जिस का स्वरुप है, ऐसे प्रिय मधुसूदन जी के ही सहयोग एवं प्रेरणा के द्वारा सब कुछ सम्भव हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी पुनीत सन्त, मधुसूदन की भक्ति एवं प्रेम पूर्ण कामना की कृति है!

—स्वामी सनातन श्री

SRIRAM SETHU PANDHAN

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ "सरयू के तट" में "श्री स्वामी सनातन श्री" अपनी अनूठी, सर्वथा मौलिक एवं विलक्षण शैली में पाठक के मस्तिष्क को बांधकर विचारों के प्रवाह को इतनी तीव्रता से मोड़ देते हैं कि पाठक स्तब्ध रह जाता है। विषय गम्भीर, अति मूढ़ होते हुए भी सरलता से स्पष्ट हो जाते हैं। तर्क एवं प्रमाण इतने सशक्त और अकाट्य होते हैं कि प्रत्येक शब्द को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह जाता है।

जितना विलक्षण ग्रंथ है, उतना विलक्षण सन्यासी भी। "सरयु के तट" एक स्मरण जिसे भुक्त भोगियों ने सुनाया ; प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्री चन्द्रभाल दुबे, (असिस्टेन्ट डायरेक्टर प्लानिंग, केन्द्रीय सरकार) से मुलाकात हुई उन्हीं के श्रीमुख से सुनी घटना है। श्री चन्द्रभाल जी फैजाबाद में ही निवास करते थे। दिल्ली में सेवारत थे, परन्तु अपने परिवार को फैजाबाद में ही अपने बूढ़े- माता-पिता की सेवा हेतु छोड़ा हुआ था। दिल्ली से फैजाबाद प्राय: कभी-कभी प्रति सप्ताह या प्रति माह चले जाते थे। स्वामीजी से उन्होंने अयोध्या चलने का अनुरोध किया। ऐसा वे जब भी दिल्ली से फैजाबाद जाते तो लखनऊ में स्वामीजी से प्रार्थना अवश्य करते थे। एक बार स्वामीजी तैयार हो गये। यह घटना सम्भवत: पांच अथवा छ: जून सन् १९७५ की है।

जून की सड़ी हुई गर्मी। प्रात: से ही गर्म हवाएँ चलने लगी थीं। स्वामीजी, श्री दुवे एवं उनके सम्बन्धी तथा मित्र, सब लोग सरयु के तट नहाने को चल दिये। फैजाबाद से अयोध्या पहुँचने तक सात बज गए थे। पुल से उतरकर घाट पर आए। कपड़े उतारकर घाट पर रखे और सब लोग जल में नहाने के लिए उतर पड़े। दुवे जी, स्वामीजी को, अयोध्या के विषय में विस्तार से बता रहे थे। यह वार्तालाप जल की धाराओं में भी निरन्तर रहा। इसी दौरान दुबे जी ने स्वामीजी को बताया "यहां से आगे उस दिशा में, कुछ दूरी पर गुप्तार घाट है। जन-श्रुति के अनुसार वहां पर भगवान श्रीराम सरयु में समाये थे।"

"दुबेजी, क्या सरयु उन्हें समा पावेगी ?" स्वामीजी ने सहज मुस्कराते हुए पूछा।

"लोग तो ऐसा ही कहते हैं, ग्रंथों में भी कुछ ऐसा ही वर्णन मिलता है। कुछ कथाकारों ने तो इस घटना को आत्म-हत्या तक की संज्ञा दी है।" दुबेजी ने बात स्पष्ट करते हुए कहा। फिर पूछा--"आप ही बताइये?" "मुझे क्या मालूम।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "हां ! दुबे! मां सरयु तो जानती होगी। क्यों न इससे पूछा जाये।"

"भला नदी क्या उत्तर देगी ?" दुबेजी ने आश्चर्य से पूछा।

स्वामीजी मौन मुस्कराते रहे। उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया और जैसे दुबे जी के वाक्य उनके कान में पड़े ही न हों। सब लोग नहाने में व्यस्त हो गये।

दुबेजी ने डुबकी लगाकर सिर बाहर निकाला तो स्तब्ध रह गये। चिल-चिलाती धूप का कहीं पता न था। आसमान काले बादलो से घिरा हुआ था। भयंकर सर्दी घाट पर बैठे पण्डों के दांत बज रहे थे। दुबे तथा उनके साथी थरथर कांप रहे थे। बादल झुकते चले जा रहे थे। सामने का पुल भी दिखना बन्द हो गया था। पानी रिमझिम बरसने लगा। फिर तेज बरसात होने लगी। सर्दी से शरीर सुन्न पड़ने लगा। पर स्वामीजी मस्त डुबकियां लगा रहे थे।

बादलों के आकार स्पष्ट होने लगे। लम्बी-लम्बी सीढ़ियां, जिनके दोनों ओर मन्दिर बने हुए। सीढ़ियां सरयु की ओर बढ़ती हुई। तभी नदी का जल तेजी से उफनने लगा। लहरें जैसे उछल कर उन सीढ़ियों पर बिछ जाना चाहती हैं। दुबेजी और सभी नहाने वाले लहरों के थपेड़े खाने उछलने लगे। पानी मूसलाधार बरस रहा था।

स्वामीजी! बाहर चलो। नदी तो समुद्र की तरह उछल रही है। हमारे कपड़े भी भीग गए होंगे।" दुबेजी ने कहा, और घाट की ओर बढ़ने लगें।

"दुबे! रूको! शायद नायक जाते भी दीख जायें।" स्वामीजी ने पुकार कर कहा, परन्तु दुबेजी एवं अन्य सारे मित्र इतने भयभीत हो गये थे कि घाट की ओर भाग खड़े हुए। स्वामीजी ने भी उनका अनुसरण किया।

जल से बाहर आते ही दृश्य लोप हो गया। वही चिल्लाती धूप! हवा में उड़ती बालू! बदन से चिपकती हुई। हां! पण्डा अभी भी कह रहा था, कि अचानक कितनी ठण्ड और बरसात हो गयी। तख्त पर खुले आसमान के नीचे सबके कपड़े रखे हुए थे। सब सुखे हुए। बरसात इतनी भयंकर और कपड़ों में एक बूंद पानी नहीं? दुबेजी ने स्वामीजी से पूछा कि यह सब क्या था? स्वामीजी ने बड़े ही भोलेपन से अपनी अनभिज्ञता प्रकट की।

श्री दुबेजी, से कहानी सुनकर हमने भी जानना चाहा तो उत्तर में भोली मुस्कान के साथ "अरे! पता नहीं क्या हो गया था दुबे! माँ सरयु ने कैसी विचित्र लीला रची।" उत्तर नदारद! उनसे कुछ भी पा लेना आसान नहीं है।

"सरयु के तट" अमर ग्रन्थ फिर भी पा लिया हमने! आप सब की सेवा में प्रस्तुत करने के परम सौभाग्य से हम गद्‌गद हैं।

लीलाओं के रहस्यों का अनावरण कर आप अपने जीवन को सजा-संवार कर श्री हरि के चरणों में समर्पित होकर प्राणी-मात्र के लिए श्रीराम जैसे वरदान बने! यही हमारी मंगल कामना है। **—रामचन्द्र गुप्त** प्रवक्ता भौतिक विभाग,
लखनऊ क्रिश्चियन कालेज, लखनऊ

श्रीराम कथा से पूर्व

हम संसार (जगत व्यवहार) और परमेश्वर, दो (द्वैत) मानकर चलें अथवा परम सत्ता को घट-घट वासी मानकर ईश्वर और जगत को एक ही मानकर चलें? ईश्वर और जगत दो (द्वैत) है, अथवा ईश्वर और जगत एक (अद्वैत) है? इसी जटिल प्रश्न ने नाना साम्प्रदायों, समाजों और धर्मों को जन्म दिया। इस अनबूझ पहेली ने नाना युगों को तथा मनुष्यता को लड़ाया; नष्ट किया, भ्रमाया और सवांरा-सजाया भी। इसी पहेली को लेकर धरा का मानव पिशाच बना और देवता भी। इस पहेली की पृष्ठभूमि से मानव, ईश्वर की भांति पूजा भी गया और अनन्त काल तक उसके पुतले भी जलाये गये।

श्रीराम कथा की पृष्ठभूमि में भी कुछ उलझी सी, कुछ सुलझी सी वह पहेली प्रमुख है।

"असुर" (अ+सुर) और "सुर" का टकराव, विरोध, विपरीत मान्यताओं और मानवीय मूल्यों की समय, प्रकृति और न्याय की कसौटियों पर परखती श्रीराम-रावण युद्ध की कथा प्रत्येक युग की सार्थक कहानी हैं। मनुष्य मात्र के जीवन, उद्देश्यों, उपलब्धियों को स्पष्ट दर्शाने वाला अद्‌भुद राष्ट्रीय ग्रन्थ है। "श्रीराम चरित मानस।"

एक असुर द्वारा बलपूर्वक अपहरण की हुई अबला को समाज दूषित कह कर ठुकरा दे, अथवा उसे स्वीकार कर सम्मान पूर्वक अधिकार दे, कथा का दूसरा मार्मिक प्रश्न है। हर युग की, प्रत्येक समाज की, मनुष्य मात्र की "अग्निपरीक्षा" है। इस महान ग्रन्थ में।

दशरथ (दश+रथ) जिसने दसों इन्द्रियों को रथ लिया हो, अर्थात् लगाम लगाकर नियन्त्रित कर लिया हो (अर्थात् दसों इन्द्रियों का निग्रह कर; इन्द्रियों को आत्म-यज्ञार्थ प्रयोग करने वाला) तथा दशानन (दस इन्द्रियों को दस मुँह बनाकर संसार का भक्षण करने वाला, स्वहित साधन में सचराचर को सताने वाला) कथानक मात्र अतीत का ही नहीं, वरन् प्रत्येक युग का, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पहलुओं को संशय रहित होकर स्पष्ट, सरस, हृदय-ग्राही करने वाला शिक्षाप्रद कथानक है।

शैव सम्प्रदाय के आराध्य इष्ट श्रीभगवान शंकर कथा सुना रहे हैं, वैष्णव सम्प्रदाय के परम् इष्ट भगवान श्रीरामचन्द्र की तथा वैष्णव भगवान श्रीरामचन्द्र रावण को जीतने के लिए शैव (शंकर) तथा शाक्त सम्प्रदाय की आराध्या नव दुर्गा की श्रद्धा एवं आस्था पूर्वक पूजा करते हैं। शैव, शाक्त एवं वैष्णव संप्रदायों में संकीर्ण होती संस्कृति को मुक्ती प्रदान कर, साम्प्रदायीक सद्भाव, प्रेम, श्रद्धा एवं सहयोग का सुखद वरद वातावरण बनाकर साम्प्रदायिक द्वेष, घृणा एवं भेद-भाव को अन्तिम रूप से समाप्त कर, मनुष्यता, सद्भाव, प्रेम, समन्वय एवं समादर को प्राण-पल्लवित करने वाले इस महान ग्रन्थ में वर्तमान राष्ट्रीय समस्याओं का भी स्पष्ट समाधान है।

इतिहास के लम्बे अन्तरालों को लाँघते हुए, ऐतिहासिक घटनाक्रम आगे बढ़ते हैं, तो उनके ऐतिहासिकता रूपी दही को ऋषि, तपस्वी, सन्तजन विवेक की मथानी से मथने लगते हैं। धीरे-धीरे ऐतिहासिकता की छांछ नीचे गिरने लगती है। और अध्यात्म का मक्खन ऊपर उठने लगता है। युगोपरांत ये ऐतिहासिक घटनाक्रम विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरुप को लेकर प्रकट हो जाते हैं। श्रीराम की कथा के साथ कुछ ऐसा ही हुआ है।

श्रीराम की कथा का उल्लेख उपमाओं के रूप में वैदिक ऋचाओं में भी आया है। तथा सनातन धर्म के ग्रन्थों में उन्हें महाविष्णु के लीलावतार में ग्रहण किया गया है। त्रेतायुग में भगवान श्रीराम का अवतार होता है, तथा द्वापर में महाविष्णु ही जो राम रूप में त्रेता में प्रकट होते हैं; द्वापर युग में भगवान श्रीकृष्ण के रूप में लीला अवतार धारण करते हैं।

एक चर्तुयुग ४३,२०,००० वर्ष का होता है, जिसके चार भाग होते हैं। यथः–"सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग"। यदि इस प्रमाण को ही सामने रखें तो श्रीराम की कथा का समय, श्रीराम की ऐतिहासिक घटना का समय लाखों वर्ष पूर्व चला जाता है। लगभग नौ से दस लाख वर्ष पूर्व ; जिसे पुरातत्व और इतिहासज्ञ नहीं मानते हैं, उनके विचारों से राम का ऐतिहासिक काल श्रीकृष्ण के उपरान्त है।

इतिहासज्ञ और पुरातात्विक विद्वानों का मत लव्ध प्रमाणों से अत्यधिक भ्रमित, घटिया सा जान पड़ता है। लव्ध प्रमाणों से स्पष्ट है। श्रीराम का ऐतिहासिक काल श्रीकृष्ण के समय से युगों पूर्व रहा है। कृष्ण की कथा में, जहाँ वेदव्यास स्वयं सुना

रहे हैं। भगवान राम का वर्णन सर्वत्र मिलता है परन्तु श्रीराम की कथा में भगवान श्रीकृष्ण की चर्चा नहीं होती है। इससे स्पष्ट है कि श्रीराम का ऐतिहासिक काल श्रीकृष्ण से बहुत पूर्व रहा है। दूसरा अकाट्य प्रमाण कथा की व्यापकता से स्पष्ट हो जाता है। श्रीराम की कथा श्रीकृष्ण की कथा से कहीं अधिक विश्व व्यापी और चर्चित तथा प्रतिष्ठित सारे विश्व में देखने को मिलती है। इससे स्पष्ट है कि श्रीराम कथा को सारे विश्व में फैलने के लिए अधिक समय मिला है। श्रीराम का ऐतिहासिक काल निश्चय ही भगवान श्रीकृष्ण से पूर्व है। अति प्रचीन राम कथा के लगभग १५८ महाकाव्य उपलब्ध हैं। उनमें से बहुतों के काफी हिस्से लुप्त हो गये हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त सारे विश्व में हजारों दन्त कथाएं, असंख्यों क्षेपक कथाएं तथा प्राचीन मन्दिर और धार्मिक स्थल सारे विश्व में देखने में आते हैं। इस सभी ग्रन्थों और कथाओं में गाथा लगभग वैसी ही चलती है, थोड़े बहुत अंतर के साथ। यह अंतर भी उन देशों के धार्मिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मान्यताओं के अनुरूप हुए हैं। उदाहरणार्थ :– जिस देश में नारी को सम्पत्ति, उपलब्धी और सम्मान का प्रतीक माना गया है, वहाँ श्रीरामचन्द्र के अनेक विवाह हुए हैं। साथ ही बाल ब्रह्मचारी हनुमान को भी १८ पत्नियाँ दी गयी हैं। राम कथा के खल-नायक विश्रवा मुनि के पुत्र लंकेश दशानन रावण को एक ऐसे आदमखोर की तरह दिखाया गया है जो अपनी ही प्रेयसी (प्रेमिका) का मांस खाता है। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि समय के अन्तरालों को लांघते हुए ऐतिहासिक घटनाक्रम अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को खो देते हैं और धीरे-धीरे वे सामाजिक और आध्यात्मिक स्वरूप का निरूपण करने लगते हैं। जिस देश के काल, समाज और उनकी मान्यताओं के समीप से ये कथानक गुजरते हैं, उस देश के विचारकों और मनीषीजन मान्यताओं के अनुरूप जो भी उपलब्धियाँ हैं वह कथा के नायक को समर्पित कर देते हैं और जो बुराइयां हैं वह खलनायक को भेंट कर दी जाती हैं। यूं एक पत्नीव्रती श्रीराम तथा बाल ब्रह्मचारी हनुमान भी उन्हीं मान्यताओं के अनुरुप बहु पत्नी व्रती हो जाते हैं। इतिहास की पृष्ठभूमि को सामाजिक और धार्मिक मान्यताएं मिटा देती हैं।

श्रीराम कथा इस प्रकार नाना ग्रन्थों में नाना रूपों में प्रदर्शित की गयी है, परन्तु इस कथा में ऐतिहासिकता को माना तो जा सकता है, परन्तु इन कथाओं में

ऐतिहासिक घटनाक्रमों को विशुद्ध रूप से ज्यों का त्यों नहीं रखा जा सकता । इस-लिए श्रीराम की कथा में भारत की आदि संस्कृति को आधार मानकर तथा आध्यात्मिक मान्यताओं को लेकर, मैं आपके सम्मुख प्रस्तुत हूँ । कथा की ऐतिहासिकता को भी इस कथा के क्रम में छूने का ईमानदारी से प्रयास करूँगा । परन्तु मेरी कथा विशुद्ध रूप से वाल्मीकि, तुलसी, कम्बर आदि ऋषियों द्वारा सुनाई गयी कथा पर आधारित होगी । उनके नायक राम, घट-घट वासी, अजर-अमर अविनाशी, हमारी देह में वास करने वाले; अर्थात आत्मा होकर व्याप्त होने वाले श्रीराम ही हैं ।

इसके ऐतिहासिक स्वरुप को भी यथा समय और स्थिति प्रयास करूँगा ये सब होते हुए भी इस कथा का आधार मुनि याज्ञवल्क हैं जिन्होंने ये कथा राजा जनक जी को सुनाई थी । मेरी कथा का विशेष आधार मुनि याज्ञवल्क तथा महाऋषि बाल्मीकि ही रहेंगे । साथ ही आदि प्राचीन ग्रन्थ तथा दन्त कथाओं को भी स्पष्ट करूँगा । उनका संक्षिप्त स्वरुप, जो कथा की ऐतिहासिकता को भी विपरीत ढंग से प्रदर्शित नहीं करता है, ऐसे क्षेपकों और दन्त कथाओं को भी इसमें लेकर चलेंगे ।

इसके साथ ही कथा से पूर्व आपको आपके आदि प्रचीन स्वरुप का भी परिचय देना चाहूँगा ; जिससे श्रीराम कथा की पृष्ठभूमि अधिक स्पष्ट हो जाए तथा मेरे पावन श्रोतागण कथा के सरस माध्यम को सरलता, सुगमता एवं गर्व से ग्रहण करते हुए परमानंदित हो सकें ।

★

आपका परिचय

जिस देश को आज इण्डिया, हिन्दुस्तान तथा भारतवर्ष के नाम से जाना जाता है । उस देश का पूर्व नाम भरत खण्ड रहा है । इस देश का नाम भरतखण्ड किसी व्यक्ति के नामांतर नहीं था । जैसी कि आम धारणा है । "भरत" शब्द का प्रयोग; सम्पूर्ण वेदों में सवका भरण-पोषण करने वाले, सचराचर के स्वामी, परमेश्वर के नामाँतर है । जो सबका भरण-पोषण करने वाले हैं वे ऋग्वेद में भरत कहलाते हैं; अर्थात् सचराचर के भरतार ।

जव भी आप पूजा आदि में संकल्प लेते हैं तो उनमें आप इन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं:- "जम्बू द्वीपे भरत–खण्डे" जम्बू द्वीप एशिया महाद्वीप का वैदिक नाम है । जिसका भरत खण्ड आज "भारतवर्ष" के नाम से प्रसिद्ध है । भारत के आदि प्राचीन

संत, ऋषि और मनीषीजन निर्मल, सरल स्पष्ट दृष्टा थे। उन्होने ईश्वर को लेकर भी भरत-खण्ड के जनमानस को कभी भी भ्रमाया नहीं। जब भी भोले भक्त समूह इन ऋषियों के पास अपने परमेश्वर को जानने के लिए गये। उनसे पूछा :– "हे स्वामी ! हमको बनाने वाले जगत-पिता परमेश्वर कहां रहते हैं ?"

"वे आत्मा होकर घट-घट वासी हैं। तुम्हारे ही अंतर में तुम्हारे पिता परमेश्वर आत्मा होकर विराजमान हैं।"

यही सारे उत्तर उन्हें भारत के सन्तों ने दिया। ईश्वर को सप्त लोग में भेजकर, स्वयं उसका स्थान लेने की कल्पना कभी भी उसके मन में नहीं उठी। आप कल्पना करें कि जब तक बड़ा आफीसर स्थान से हटेगा नहीं तब तक उसका असिस्टेंट जनता से बड़े आफीसर जैसा व्यवहार कैसे करेगा ? जब तक ईश्वर अन्यत्र लोक में नहीं जायेगा, तब तक धरती के सन्त, गुरूजन और विद्वान धरती के ठेकेदार कैसे बनेंगे ? अपने से बड़े के आगे उन्हें भीगी बिल्ली की तरह ही रहना पड़ेगा। जब तक ईश्वर किसी दूसरे आसमान पर नहीं जायेगा ; स्वर्ग के टिकट भी तो न बेचे जा सकेंगे। ये सब जानते हुए भी भारत के सन्तों ने बड़प्पन स्वयं न लेकर, सारे भक्त समाज को दिया। कितना महान है तू ईश्वर को भी धारण करता है। वे आत्मा होकर तुम्हारे भीतर बैठें हैं। जब भीतर हैं राम, सचराचर के स्वामी, तो फिर तू छोटा हैं किससे ? भारत के सन्तों ने ईश्वर को घट-घट वासी बनाकर भक्त को अपने से भी ऊपर बड़प्पन, सम्मान दिया। इसी मानसिकता और विचारधारा ने देश को नाम दिया 'भरत-खण्ड' अर्थात् परमेश्वर खण्ड। भरत अर्थात् परमेश्वर का स्थान भरत-खण्ड। दूसरे देशों में धरती का नाम भरत-खण्ड इसलिए नहीं पड़ा ; क्योंकि उनकी मान्यताओं में परमेश्वर सदा मनुष्य से दूर, धरती से भी परे, सांतवें आसमान, सेविन्थ-हैविन, सप्त लोक में ही प्रतिष्ठित रहा। गुरू तो बना गड़रिया और चेले हो गये भेड़े। भरत-खण्ड के सन्त ने ईश्वर को सचराचर में देखा। आत्मा होकर वे सब में प्रतिष्ठित रहे तो यहां कोई छोटा न हुआ, देह महान हुई, व्यापक हुई, स्वयं सृष्टा घट-घट वासी हुआ।

अवतार अथवा ईश्वर के पुत्र की संज्ञा, किसी एक संत अथवा अवतारी पुरुष मात्र को नहीं मिली। वरन् यहाँ के मनुष्य मात्र को हमने भरत का पुत्र अर्थात्

भारत नाम की संज्ञा (पहचान) प्रदान की इसीलिए आदि काल से भारत शब्द का प्रयोग ही सम्पूर्ण वेदों में तथा स्वतंत्र संज्ञयक शब्द के रूप में मिलता है। वेदों के उपरांत के ग्रन्थों में भी तथा समय के अन्तरालों में भी भारत शब्द का ही इकलौता प्रयोग मिलता है। गीता में स्वयं भगवान वासुदेव वीरवर अर्जुन को 'हे भारत' सम्बोधन से ही संबोधित करते हैं। बाल्मीकि साहित्य में भी भारत शब्द का प्रयोग सम्मानार्थ आया है। जब इस देश के सारे राजा मिलकर युद्ध लड़े तो उस युद्ध का नाम भी 'महाभारत' पड़ा। तुलसीकृत मानस में भी श्रीराम के उपरांत उनके अनुज का नाम क्या हो ? इसको लेकर जो चौपाई आती है, वह इस प्रकार है :-

"विश्व भरण - पोषण कर जोई,
तासु नाम भरत अस होई।"

जो सम्पूर्ण सचराचर का भरण-पोषण करने वाले परमेश्वर अर्थात् भरत हैं। उन्हीं के नामांतर दूसरे कुबेर का नाम श्री भरत होगा। अर्थात् ये परमेश्वर के समान सबका भरण-पोषण करने वाला होगा। इस प्रकार भरत शब्द सबका भरण-पोषण करने वाले परम पिता के नामांतर के रूप में आदिकाल से लेकर, मानस के काल तक सर्वत्र मिलता है। इससे स्पष्ट है कि भरत-खण्ड का प्रयोग इस भू-खण्ड का पड़ा। परमेश्वर के घट-घटवासी स्वरूप की मान्यता के अनुरूप ही था तथा नागरिक की संज्ञा भरत के पुत्र अर्थात् भारत पड़ी। भारत शब्द का अर्थ है ; ईश्वर का बेटा, मसीहा, अवतार।

भारत-खण्ड का सन्त एक अद्भुद विलक्षण आदिकाल से देखने में आता है। किसी एक व्यक्ति को अवतारी कहकर शेष को भेड़ बकरियां बनाने की भ्रान्तिपूर्ण भावना उसमें कभी नहीं रही। सभी को भारत कहकर उसने सबको ईश्वर का बेटा कहा है। दूसरे देशों में किसी एक व्यक्ति को तो ईश्वर का बेटा कहा गया ! परन्तु ये नहीं बताया कि बाकी बेटे किसके हैं ? उनकी भी मान्यता यही रही और हम भी सदा से मानते हैं कि पिता एक है जिसने हम सबको बनाया है। तो एक ही व्यक्ति अवतारी हो और बाकी मनुष्य किसी की अंजाने अवैध संतान हो ? ये मान्यता भारत और भारती की, किसी युग में, किसी काल में, कदापि नहीं रही हैं।

मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहूँगा-"जहां से सूरज हट गया वहां क्या हुआ?"

"अंधेरा"

जहां से ईश्वर हट गया वहाँ पर भी शैतान के अंधेरे ही तो रहेंगे । इसीलिए भारत के अद्‌भुत्‌दृष्टा, पूर्ण वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक संतों ने हर व्यक्ति के अंतर में ही ईश्वर को रखा । उसे सातवें आसमान में नहीं भेजा । उसने कहा–"उसकी सत्ता को, उसके आत्मविश्वास को, उसकी सामर्थ्य को, उसकी रोशनी को, उससे दूर कर सातवें आसमान मत भेजो ।" नहीं तो ये बहुत खोखला बड़ा ही हीन होकर नष्ट हो जाएगा 'इसके ईश्वर को, उसकी शक्ति, सत्ता सामर्थ्य, आत्मविश्वास, सत्य और निष्ठा को ईश्वर बनाकर, आत्मा बनाकर, उसके भीतर रखो । ईश्वर आत्मा होकर, सभी गुणों का पूरक होकर, उसके शरीर के भीतर ही वास करें । रोशनी भीतर से बाहर आये । जिससे अंधेरे, जिन्दगी में न हों । जिन्दगी सदा ईश्वर रूपी रोशनी में रहे ।

एक और प्रश्न पूछना चाहूँगा मैं आपसे, "कल्पना करें आप एक नदी के किनारे खड़े हैं । जिस घाट पर खड़े हैं वहां पर दो नावें किनारे पर लगी हुई हैं । एक नाव उत्तर को जायेगी और दूसरी उसके ठीक विपरीत दक्षिण की ओर चलेगी । यदि मैं आपसे कहूँ :–" "दोनों नावों पर एक–एक पैर रखकर खड़े हो जाओ तो क्या आप दोनों नावों पर यथा समय अलग–अलग पांव रखकर खड़े रह सकते हैं ? जबकि दोनों नावे एक दूसरे के विपरीत तेजी से भाग रही हैं ।"

स्पष्ट है कि आप इस अवस्था में जीवित नहीं रह पाएगे । आपको सदा बीच मजधार में गिरने और डूब मरने का सदा भय बना रहेगा । आज कभीभी निश्चिन्त और सुखद अवस्था को नहीं पा सकते । ऐसी अवस्था में आप क्या करेंगे ? इसके दो ही उत्तर हो सकते हैं या तो आप दोनों नावों का परित्याग कर वापस किनारे पर लौट जाएं । दूसरे ये भी हो सकता है कि आप बेईमानी पर उतर आयें और चुपके से दूसरा पांव भी उठाकर उसी नाव में रख लें जिसमें पहला पैर है । इस प्रकार आप दूसरी नाव के साथ धोखा, विश्वासघात और बेईमानी करें । दोनों नावों पर एक साथ तो आप कदापि नहीं ठहर सकते । एक नाव ईश्वर है और दूसरी नाव समाज । एक नाव मनुष्य अन्यत्र लोक को जा रही है और दूसरी धरती पर फिसल रही है । आप ही बताएं कि सरकस का नट भी क्या इस अवस्था में जीवित रह सकता है ? कदापि नहीं !

इसीलिए भारत के सन्तों ने ईश्वर को और समाज को, कभी अलग नहीं किया। सदा एक ही नाव बनायी। ईश्वर सम्पूर्ण सचराचर में व्याप्त हुआ है। यूँ समाज और ईश्वर एक नाव हो गये। ऋग्वेद की ऋचा ने ईश्वर को घट-घट वासी माना है। यथा :-

अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रंः सहस्रिणम्। यस्मिन् विश्वानि पौंस्या॥५६

अर्थात् "अक्षियोतिः" सीपी में बन्द मोतो की तरह। जिस प्रकार सीपी में मोती बन्द होता है। उसी प्रकार ईश्वर होकर, आत्मा होकर; सम्पूर्ण देह रूपी सीपियों में मोती की भाँति ईश्वर, सम्पूर्ण सचराचर में समाया हुआ है.। (सनेदिमम्) हे प्राण, हे स्नेह सिक्त (इदम्) इस प्रकार मैं पाता हूँ आपको हर शरीर में समाये हुये जगमगाते मोती सा। आत्मा होकर हर घट में आप ही तो प्रत्येक शरीर में (वाजम्) यज्ञ कर रहे हैं। (इन्द्रा) ब्रह्म ज्वालाओं में, अर्थात् आत्मा रूपी अग्नियों में (सहस्त्रिणम्) सहस्त्र-सहस्त्र। (यस्मिन) जिसके कारण यह (विश्वानि) क्षण भंगुर संसार (पौंस्या) अर्थात् पुनः-पुनः उत्पन्न हो रहा है। फिर-फिर प्रगट हो रहा है। भस्मी चिता की पुनः फल हो जाती है। फल भी बालक बन जाते हैं।

ऋग्वेद से लेकर सम्पूर्ण वेदों तथा शास्त्रों और उपनिषदों ने समाज और ईश्वर को सदा एक नाव माना। इसी क्रम का निर्वाह किया मानस के हँस तुलसीदास ने :-

"सीय राम मय सब जग जानी"

अर्थात् सीय राम के इस जोड़े को सम्पूर्ण सचराचर में व्याप्त देखता हूँ। प्रत्येक आत्मा होकर सब में व्याप्त हैं। इस प्रकार भरत-खण्ड भारत का आदि प्राचीन नाम है। भारत आप सबकी आदि पहचान है जो गुलामी के अन्तरालों में यथाः-" हिन्दू (फारसी में गाली) तथा इण्डियन (अनैतिक लोग) नाम पड़ गया। मूलतः आप भारत है! अर्थात् मसीहा हैं! अवतार हैं! ईश्वर के पुत्र हैं!

इसी आदि मान्यताओं को लेकर ही सम्पूर्ण धार्मिक ग्रन्थों, उपनिषद आदि, पुराण आदि, लीला ग्रन्थों की रचना अनन्तकाल से सन्त, ऋषि, दृष्टा, कवि तथा मनीषीजन करते रहे हैं। श्रीराम कथा भी इसी परम्परा की अनूठी अलौकिक देन है।

जिसे दुर्भाग्य से पुरातत्वेत्ता, इतिहासकार तथा आधुनिक समाजशास्त्री और विचारक स्पष्ट रूप से समझ नहीं पाये। इसी कारण क्षण–क्षण अमृत बरसाने वाले ये दुर्लभ ग्रन्थ, बहुत बार संदेहों के भ्रम जाल उत्पन्न करने लगे।

सनातन धर्म में मूल धर्म ग्रन्थ की कल्पना भी बड़ी विलक्षण रही है। हमने ऋग्वेद से पूछा ! "हे महान वेद ! तू ही बता धर्म का मूल ग्रन्थ कौन सा है ? "क्या तू ही धर्म ग्रन्थ है। जिसे नारायण धर्म ग्रन्थ के रूप में प्रकट करते ?"

ऋग्वेद ने उत्तर दिया, "नहीं। मैं धर्म ग्रन्थ नहीं हूँ ! ईश्वर के द्वारा लिखा मूल ग्रन्थ जो धर्म ग्रन्थ की संज्ञा के अनुरूप है, वह तो मात्र प्रकृति है। जिसे प्रभु आत्मा होकर, घट–घट वासी होकर स्वयं अपनी कलम से प्रकट करते हैं। जिसका एक अक्षर तू भी तो है। विचार कर ! इस प्रकृति रूपी ग्रन्थ में; न जाने कितनी बार, तू नाना योनियों में प्रकट हुआ है। कभी मृग छौना बनकर तूने कुलांचे भरी होंगी। जाने कितनी बार तू मोर बनकर नाचा होगा ? बुलबुल बनकर चहचहाया होगा ! न जाने कितनी बार तू किसी के आंगन में, उगते सूरज सा, सुन्दर शिशु बनकर, फिर–फिर उतर आया होगा। वे ग्रन्थ जिनमें ये सारी कथायें लिखी हैं वे कोई भोज पत्र के ग्रन्थ तो नहीं हैं। वे ग्रन्थ तो यहाँ व्याप्त सारी प्रकृति ही है। जिस ग्रन्थ में तेरे अनन्त अतीत सोये हुए हैं। जिस ग्रन्थ में वर्तमान का प्रत्येक क्षण मुखर है। तथा भविष्य की सुखद कल्पना उन्नीदी सी सोयी हुई है। अरे ! वह ग्रन्थ प्रकृति है। इसी में ही तो लिखा है भूत, भविष्य और वर्तमान तूम्हारा। यदि ये धर्मग्रन्थ नहीं तो फिर धर्मग्रन्थ कौन सा होगा ?"

इस प्रकार जो ब्रह्मा के श्री मुख से प्रकट होते चारों वेद हैं वह भी स्वयं धर्मग्रन्थ न मानकर प्रकृति (कुदरत) को ही धर्म ग्रन्थ की संज्ञा प्रदान करते हैं। यह विश्व में नितान्त इकलौती, अनूठी और महानतम् कल्पना है। हमने पुनः वेद से पूछा, "रे वेद बता? जब प्रकृति ही मूल ग्रन्थ था तब ब्रह्मा ने तुम सबको क्या प्रकट किया ? इतना ही नहीं। शास्त्र, उपनिषद, पुराण आदि इतने ग्रन्थ क्यों प्रकट किये गये ?"

वेद ने उत्तर दिया कुछ ऐसा :– "हम सब ग्रन्थ मात्र एक विश्वविद्यालय की कल्पना के रूप में प्रकट किये गये हैं। भूतल के मनुष्य इन ग्रन्थों को अपने बौद्धिक स्तर के अनुरूप ग्रहण करें पाठशाला की भान्ति कक्षा–कक्षा आगे बढ़ते हुए, अपने बौद्धिक स्तर को, पूर्ण परिपक्वता प्रदान करें। इस विश्वविद्यालय से पारंगत हो,

पूर्ण परिपक्व होकर मूल ग्रन्थ अर्थात् इस प्रकृति को पढ़ने के लिए, स्वयं को जगाने के लिए, बनके ऋषि, साधक, ईश्वर द्वारा लिखी पुस्तक (प्रकृति) को पढ़ने की योग्यता उत्पन्न करें। यूं ही सारे ग्रन्थ एक विश्वविद्यालय की कल्पना के रूप में प्रकट हो गये हैं। अन्यथा मूल धर्म ग्रन्थ तो प्रकृति ही है।"

हमने फिर पूछा वेद से, "रे वेद! बता कि ये सारे ग्रन्थ यदि विश्वविद्यालय की पुस्तकें हैं। इसे यदि हम स्वीकार भी कर लें; तो भी हम समझ नहीं पाते हैं, कि ईश्वर ने मनुष्य रूप में अवतरित होकर ये नर लीलायें क्यों की? इन लीला ग्रन्थों का क्या रहस्य?"

उत्तर दिया वेद ने:-"जब बालक पाठशाला में पाठ्यपुस्तकों के अंश नहीं समझ पाता; तब एक विद्वान अध्यापक उसे नाना उदाहरणों और उद्धरणों के द्वारा स्पष्ट करता है। यूं जब-जब पाठशाला की कथाओं की इन पाठ्य पुस्तकों को (जो हम सब हैं) नहीं समझ पाते हैं तो परम्पिता परमेश्वर एक अच्छे सुघड़ अध्यापक की भांति लीलाओं के द्वारा स्पष्ट करने लगता है। यह लीला ग्रन्थ है। हर लीला ग्रन्थ में हम तुम सबको तुम्हारी ही कथा सुनाते हैं। हर पात्र के रूप में नितान्त तुम्हीं हो वहाँ पर! तुम्हारे नाना विचार, नाना दिशाएं, नाना मान्यतायें, नाना धारणायें, नाना पात्रों के रूप में प्रकट होकर तुमको तुम्हारा ही व्यापक स्वरुप दिखा रहे हैं। रे मनुज! हांड़-मांस के पुतले! पहचान स्वयं को! तू सम्पूर्ण ब्रम्हांड का पूर्ण तथा व्यापक, छोटा सा चित्र है। सारे सचराचर में जो-जो कुछ है; वह सब सूक्ष्म होकर तुझ में समाया हुआ है। कितना व्यापक है तू! कितना महान है! काश!! इन लीलाओं में तू स्वयं को पहचान पाता! यही उद्देश्य है इन लीला ग्रन्थों का।"

जिन्हें आप रास लीलाओं के नाम से जानते हैं उनका अति प्रचीन नाम रहस्य लीला हमने पाया है। रहस्य लीला का अपभ्रंश कलान्तर में 'रहास' लीला हो गया था। जो पुन: समय के अन्तरालों को पार करता हुआ 'रास-लीला' बन गया है। रहस्य लीला शब्द का अर्थ है; हर व्यक्ति को, उसके जीवन के विभिन्न रहस्यों को, ईश्वरीय लीला के रूप में प्रदर्शित कर उसके जीवन के सूक्ष्म-ज्ञान में पारंगत कर, उसको अपनी पूर्ण पहचान कराना। उसको निज स्वरूप का सन्देह रहित परिचय देना।

संसार को पहचान लेना कठिन नहीं है। स्वयं को जान लेना एक दुर्लभ उपलब्धि है। बहुत भाग्यवान हैं वे लोग जो पहचान पायें हो स्वयं को।

★

याज्ञवल्क मुनि

श्रीराम कथा को सुनाने वालों में सर्व प्रथम नाम हमें मुनि याज्ञवल्क का मिलता है। याज्ञवल्क ऋषि त्रेतायुग में हुए हैं जो श्रीराम कथा के पूर्व माने गये हैं। याज्ञवल्क मुनि ने ही भविष्यवाणी के रूप में जनक को श्रीराम कथा सुनायी थी। याज्ञवल्क मुनि की राम कथा वेद आदि में भी उद्धरणों के रूप में आयी है। याज्ञवल्क की राम कथा को जाने बिना हम राम कथा के सामाजिक तत्व को, ऐतिहासिक तत्व को तथा मानवीय मूल्यों को भले ही जान लें, परन्तु महाविष्णु की लीला का सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्व जो श्रीराम कथा में समाया हुआ है, उसे हम कदापि न जान पावेंगे। समय के अन्तरालों में खो गया याज्ञवल्क मुनि, आज इस कथा में भ्रम का कारण बन गया है। क्योंकि, प्रत्येक कथा के पीछे उसका एक मूल उद्देश्य होता है तथा कुछ उद्देश्य गौण हुआ करते हैं। श्रीराम कथा का मूल उद्देश्य ईश्वर की लीला अर्थात् विशुद्ध आध्यात्म को स्पष्ट करना ही रहा है। परन्तु याज्ञवल्क की कथा के खो जाने के कारण, उसके गौण उद्देश्य इतिहास, समाजशास्त्र, राजतंत्र. मानवीय मूल्य, इन्हीं को ये कथा स्पष्ट करती रही है। मुनि याज्ञवल्क श्रीराम कथा की अन्तरात्मा हैं। इसलिए मैं चाहूँगा कि सबसे पहले हम मुनि याज्ञवल्क की राम कथा को संक्षेप में सुने। पुनः जब हम राम कथा का विस्तार करें तो इस कथाक्रम के प्रत्येक घटनाक्रम में जहाँ सब ऋषियों को देखें, याज्ञवल्क मुनि को भी देखना न भूलें।

मुनि याज्ञवल्क का नाम ही मुनि के स्वरूप को स्पष्ट करता है। "याज्ञ" शब्द यज्ञ से लिया गया है। "वल्क" वस्त्र को कहते हैं। जो यज्ञ की ज्वालाओं को वस्त्र स्वरूप ग्रहण करे। उसे संस्कृत में याज्ञवल्क कहा जाता है। मुनि यज्ञवल्क, उस

घट-घट वासी आत्मा को, उस यज्ञ को ही राम कथा में स्पष्ट करते हैं । जो यज्ञ की ज्वालाओं को ही अपनी ओढ़ना (आवरण) चाहता है । जो यज्ञ से ही अपना स्वरूप लेकर प्रकट होता है । यज्ञ ही जिसके जीवन के प्रत्येक क्षण में निरन्तर होता है और यज्ञ की रश्मियों सा सर्वांग स्निग्ध है । वही मुनि याज्ञवल्क है ।

याज्ञवल्क की राम कथा ही महाविष्णु लीला की एक विशुद्ध सच्ची कहानी है, जो कथा के सूक्ष्म आध्यात्मिक मर्म को स्पष्ट करती है ।

याज्ञवल्क मुनि ने विदेहराज जनक को बताया, कि 'हे जनक जब-जब धारा पर पाप और अनाचार बढ़ने लगता है । असत्य और अज्ञान मनुष्य की जीवन की धारणाओं में प्रवेश कर जाते हैं । लोभी और स्वार्थी, समाज होने लगता है । जीवन के मूल उद्देश्य जब मनुष्य मात्र के खो जाते हैं । तब-तब महाविष्णु लीलावतार धारण कर सत्य की प्रतिष्ठा के लिए पुनः पुनः रूप धारण कर एक अद्भुत आध्यात्मिक लीला करते हैं । हे जनक ! वे लीला के क्षण अति समीप हैं । मैं अपनी त्रिकाल दृष्टि से देख रहा हूँ कि शीघ्र भविष्य में ; क्षीर सागर में शेष शयन करते शेषशयी महाविष्णु, देव ऋषि नारद के द्वारा अभिशप्त होंग । तब वे धरा पर राजा दशरथ के यहां अपनी विभूतियों के साथ प्रकट होंगे । हे जनक ! लक्ष्मी भी तुम्हारे ही यहां प्रकट होंगी । एक दिव्य अलौकिक लीला के रूप में । तब महाविष्णु इतिहास, समाज, मानवीयता को एक नया और सही मोड़ देंग तथा तपस्वियों को, ज्ञानियों को, अपनी जीवन लीला के द्वारा, जीवन के सूक्ष्म आध्यात्मिक मर्म. को स्पष्ट करेंगे । हे जनक ! इस लीला के तुम भी एक पात्र बनोगे ।"

विदेहराज जनक रोमांचित हो उठे । और उन्होंने मुनि याज्ञवल्क से प्रार्थना को :- 'हे मुनि राज ! आपने भविष्य में होने वाले इस अद्भुत लीला-क्रम का आभास देकर मुझे कृतार्थ किया है । हे भरत श्रेष्ठ! हे मुमि श्रेष्ठ !! क्या आप मुझ पर कृपा कर; जिस दिव्य तत्व को, आध्यात्मिक सूक्ष्म ज्ञान को, महाविष्णु लीला द्वारा स्पष्ट करेंगे, क्या आप मुझे उस तत्व का भी आभास देंगे ? हे मुनि राज ! आपकी अतिशय अनुकम्पा होगी ।"

'हे जनक ! महाविष्णु की लीला हर व्यक्ति के, जीवन के हर क्षण की कहानी है । विस्तृत आध्यात्मिक स्वर पर लीलाओं के द्वारा जो नारायण तत्व स्पष्ट करेंगे । उसका संक्षेप में, तुम्हें पूर्व ही बतलाता हूँ ।'

मुनि याज्ञवल्क ने श्रीराम कथा के सभी पात्रों का विशुद्ध आध्यात्मिक वर्णन करते हुए एक अद्भुत अलौकिक दिव्य कथा जनक को सुनायो । उसका संक्षिप्त इस प्रकार है ।

"दशरथ" अर्थात् जिसने दस इन्द्रियों का निग्रह किया वही तो दशरथ है । "दशानन", जिसने दस इन्द्रियों को दस मुँह बनाया और सचराचर का शोषण करने चला वह व्यक्ति ही तो दशानन है । इस प्रकार मन ही दशरथ, मन ही दशानन ! घट-घट वासी, अजर-अमर अविनाशी आत्मा ही तो राम है । आत्मा होकर परमात्मा का लीला अवतार है । जब भी आत्मा के साथ, परम् विशेषण उसके आगे लगता है तो परमात्मा होता है । परम्+आत्मा=परमात्मा । घट-घट वासी आत्मा राम ! मन ही दशरथ ! मन ही दशानन है । जीव, उसकी प्रकृति, उसकी प्रवृति धरती की बेटी सीता । हमारा तन ये शरीर हमारा ! ये तन हमारा कैसे लौटा है कुदरत से, प्रकृति से, जरा इस प्रकार भी विचार कर लें तो जानकी जी का स्वरूप स्पष्ट हो जाए । चिता की राख ही तो है जो पानी का संग करती है । और राख से खाद बन जाती है । उसी खाद को जब पेड़ पौधों की जड़े ग्रहण करती हैं तो वे मिट्टी बनी खाद, नाना फलों और फूलों में लौट चलती है ।

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही । पक्वा शाखा न दाशुषे ॥ १.८.८.

(एवाहास्य) यूं, ऐसे, इस प्रकार (सूनृता) मंगलयज्ञों को धारण करने हेतु प्रकट हो गया जब आत्मा पेड़ों के गर्भ में (विरप्शी) उसके द्वारा प्रकट उन नाना प्रकार के पेड़-पौधों के पास से (मही) मेरे तन की मिट्टी (गोमती) जो ज्योतियों की राह यज्ञभूमि में, आत्म ज्वालाओं में, जलने उन पौधों के गर्भ में, अपने रूप को मिटाने जब मेरे ही तन की मिट्टी चली, तो (पक्वा शाखा) पके फल बन शाखाओं पर मेरे ही तन के अंग (दाशुषे) यज्ञों के द्वारा उत्पन्न होकर लहलहा उठे ।

यूँ जब किसी राजा दशरथ ने चलाया था हल ! तो बन वनस्पति लौटी थी मेरे ही तन की मिट्टी ! ये धरती की बेटी ! मेरे ही तन की भस्मी जो फल बन गयी ! अन्न बन गयो ! पुनः ऋचा ने कहा ।

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्रइव पिन्वते । उर्वीरापो न काकुदः ॥ १.८.७.

याद कर वो कौन था यह जिसने (कुक्षि) गर्भ में (सोमपातम:) ज्योतियों का पात करते हुए, अंधेरे गर्भ को यज्ञ की ज्वालाओं से रोशन करता चला गया। (समुद्रइवपिन्वते) सागर सा सींचता गया गर्भ को। वह गर्भ क्षीर-सागर बना, जहां से ही हम प्रकट हुए बालक के रूप में ! शिशु के रूप में ! (उर्वीरापो न काकुद:) कि जनक सा, हल से जोतता गया वह ! एक बार यज्ञ हुआ ! जनक ने हल चलाया तो अन्न, वनस्पतियाँ बनी सुन्दर देह के रूप में, जानकी के रूप में, प्रकट हो गयीं धरती की बेटी, देह हमारी।

अरे! जब हल चलाये थे जनक ने, तो धरती की बेटी मिट्टी से फल बनी थी। वह धरती की बेटी ही तो गर्भ में, जनक के यज्ञ के द्वारा, बालक बनी। जनन को प्राप्त हो जनित होकर जानकी हो गयीं। यूं धरती की बेटी ये देह हमारी आध्यात्मिक कथा में लक्ष्मी जी के रूप में जनक के यहां पुत्री बनके प्रकट होंगी। हर व्यक्ति के जीवन में घटने वाली घट-घट वासी कथा ही श्रीराम की घट-घट वासी आध्यात्मिक कथा है। दशरथ और दशानन मेरे ही मन स्थितियाँ। आत्मा ही श्रीराम ! धरती की बेटी जानकी यह देह मेरी है। दशरथ की पत्नी का नाम कथा में कौशल्या है। "कौ" माने अनन्त और "शल्या" माने पीड़ाओं को सहने वाली। अनन्त पीड़ाओं को सहनकर भी जो दूसरों का सुख चाहे, उसे संस्कृत में कौशल्या कहते हैं। वेद में कौशल्या नाम धरती का आया है। हल के फल से हमने जब खेत जोता तो धरती को कितने शूल दिये ! कितनी पीड़ाएं दीं ! प्रत्युत्तर में, माँ धरती ने उन पीड़ाओं के बदले, हमें फल दिये। अन्न दिया, जीवन सोपान दिया। जब मन हो दशरथ और जीवन वृत्ति कौशल्या हो जाए तो आत्म तत्व राम प्रकट हो जाता है। यूं दशरथ और कौशल्या के घर महाविष्णु राम रूप में अवतरित होंगे। हे जनक! जीवन के जीवन्त आध्यात्म को स्पष्ट करने हेतु महाविष्णु दशरथ और कौशल्या के दाम्पत्य को वरद करेंगे। जो हम सबकी कहानी है, उसी को, लीलावतार धारण करके हम पर स्पष्ट करेंगे।

जब भी बुद्धि हमारी दस इन्द्रियों को रथ दशरथ मार्ग का अनुसरण न करके बर्हिमुखी जो जाती है। दस इन्द्रियों को दस मुख बना, दशानन बन, स्वर्ण मृग माँगने लगती है। जब भूल जाते हैं हम अपने आपको ! अपने जीवन के उद्देश्यों को ! प्रकृति और पुरूष सत्य को, तब आत्मा राम चल देते हैं ढूंढने स्वर्णमृग।

जीवन के वे स्वर्ण क्षण; जिन्हें हम बर्हिमुखी हो भ्रमा चलें, मिटा चले। तब मन दशानन हमें बना अर्थी, बाँध से, ले जाता है मेरी ही देह को, जानकी को, वायु-मार्ग से। ले जाता है लंका में, शमशान घाट में।

राम के विरह की अग्नि में जलकर राख हो गयी हमारी प्रकृति, धरती की बेटी यह देह हमारी। भस्मो का नदी के जल में विर्सजित करते स्वजन हैं हमारे! पानी का संग कर जंगलों को अशोक वाटिकाओं में डोलती, भटकती प्रकृति! धरती की बेटी! पुकारती राम को! घट-घट वासी आत्मा को।

प्रकट हो जाते हैं पेड़ पौधों के गर्भ में, अवधेश हमारे! मर्यादापुरूषोत्तम राम! जो घट-घट वासी हैं। जो परम् ब्रह्म हैं। अर्थात् जो ॐ हैं।

ओम में तीन अक्षर होते हैं। (अ+ उ+ म), [अ] से अस्तित्व, तत्व, धारक, ब्रह्मा। [उ] से उत्पत्ति, सृजन, सृजक, विष्णु। [म] से मृत्यु, मृत्युन्जय, महेश।

धारण–धारण, सृजन और संहार से यज्ञ के द्वारा सम्पूर्ण सचराचर को पुनः-पुनः जीवन्त और चैतन्य करने वाला, घट-घट वासी आत्मा ही तो यज्ञ है! ॐ है!! राम है! इसी को ऋचा ने आरम्भ में गाया है।

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्। होता॑रं रत्न॒धात॑मम्॥१.१.१

प्रकट हो गये अवधेश मर्यादा पुरूषोत्तम राम, हर पेड़ पौधे के गर्भ में। परास्त किया रावण को अर्थात् अंधकार को, जडत्व को ब्रह्मा बन धारक बने। हमारे ही तन की मिट्टी को ब्रह्मा बन, धारक बन स्वीकारा और प्रलयंकर रूद्र बन पेड़ पौधों में इस माटी को तेज में संहारा! विष्णु बन उसने माटी का सृजन किया! तो वही माटी अग्नि परीक्षाओं के द्वारा, रूद्र अग्नियों के द्वारा, एक बार फिर मोहक रसीले फलों और फूलों में लौट चली! लौटी धरती की बेटी अग्नि परीक्षा के द्वारा।

पुनः देह में आत्मा होकर अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश होकर सूर्यवंशी ने, आत्मा रूपी सूर्य होकर, इसी अन्न को ग्रहण किया। भोजन के रूप में! प्रातःकाल ब्रह्मा बने धारक बने हमारी ही देह में। भोजन को ग्रहण किया प्रातःकाल यज्ञोपवीत धारियों ने ब्रह्मस्वरूपा गायत्री का ध्यान किया। जो बने आत्मा सो भजे धर्मात्मा [धर्म + आत्मा] दोपहर को घट-घट वासी राम बने प्रलयंकर रूद्र उसने भोजन का संहारने लगे दोपहर यज्ञोपवीत धारियों ने रूद्र स्वरूपा गायत्री का ध्यान किया। सायंकाल घट-घट वासी आत्मा, राम विष्णु बनें। उन्हीं ज्वालाओं को रक्त, शक्ति, तेल में सृजन

बालमीकि मुनि

बालमीकि का परिचय पाये बिना श्रीराम कथा में हमारा प्रवेश वरद नहीं हो सकता। महर्षि बालमीकि, महाविष्णु द्वारा राम रूप में अवतरित होकर की गयी लीला का वर्णन ही नहीं, अपितु, महर्षि कथाकार होने के साथ ही श्रीराम कथा में एक पात्र बनकर अभिनय भी करते हैं। इस प्रकार महर्षि बालमीकि कथाकार भी हैं और कथा के पात्र भी हैं। सबसे पहले हम बालमीकि को ही जानें।

संस्कृत में 'वल्म' अथवा 'बल्म' इन दोनों का अर्थ बाम्बी है। बल्म का अर्थ हुआ दीमकों की बाम्बो में रहने वाला ; अर्थात् दीमक ! दीमक मिट्टी में बाम्बी अर्थात् घर बनाते हैं, उसे 'बल्म' कहते हैं तथा संस्कृत में 'वाल्मीकि' का शुद्ध अर्थ दीमक ही है।

महर्षि वालमीकि, जब नारद के द्वारा दीक्षित होकर नाम ध्यान में अटल समाधिस्थ हो गये। उन्हें जगत का भान ही न रहा। समय फिसलता रहा। समाधि अखण्ड रही। गर्मी, सर्दी, जाड़ा, बरसात, न जाने कितनी-कितनी बार आये। तपस्वी को झंझोड़ा, तपाया, शीत के थपेड़ों से जमाने का असफल प्रयास किया ! जब हिला नहीं, ठिठुरा नहीं, जला नहीं, तो उसकी कठिन परीक्षा देख बरसात हर बार रोई। समय ने दयार्द्र हो उसके शरीर को मिट्टी से ढक दिया। उसके चारों ओर तथा ऊपर मिट्टी का ढेर टीले सा प्रकट हो गया। इस सबसे अनभिज्ञ तपस्वी समाधिस्थ रहा। दीमकों ने उस मिट्टी के ढेर में ब्रह्म बना लिया। दीमकों की बाम्बी से कालान्तर में जब प्रकट हुआ तो बालमीकि कहलाया।

महर्षि बालमीकि ने संसार को राम नाम से परिचित कराया तथा निकट भविष्य में नारायण के लीलावतरण की भविष्य वाणी की। उन्होंने ही राम कथा को काव्य-बद्ध करके सचराचर का महान कल्याण किया। संसार सदा-सदा उनका ऋणी रहेगा। भगवान श्रीरामचन्द्र के पुत्र भी जनक-सुता सीताजी के गर्भ से महर्षि वालमीकि की कुटिया में प्रकट हुए। महर्षि वालमीकि, श्रीराम कथा के भविष्य दृष्टा, पात्र, रचयिता, एवं प्रकाश स्तम्भ हैं।

वाल्मीकि शब्द का अर्थ है "दीमक"। दीमक एक प्रकार के कीड़े का नाम है, जो मिट्टी में घर बनाता है। तथा केवल सूखी लकड़ी ही खाता। दीमक यदि हरे पेड़ में अथवा रसदार पत्ती में दांत गड़ा दे, तो स्वयं मर जाता है। किसान जानते हैं, जब भी खेत में दीमक हो जावें, कसके पानी भर दो। दीमक से छुटकारा मिल जावेगा।

यह संसार एक बाम्बी ही तो है। नाना विषय, लिप्सा, मोह, अज्ञान रूपी दीमकों की बाम्बी में ही तो हम रहते हैं। महर्षि वाल्मीकि उस बाम्बी से प्रकट होकर, प्रकाश स्तम्भ की भांति हमें दिशा दिखा रहे हैं; कि संसार रूपी बाम्बी में विषय वासनाओं, काम-क्रोध, मद-लोभ-मोह, आसक्ति, अज्ञान, संकीर्णता, स्वामित्व, अहं, वैमनस्य, दुख, पीड़ा, अतृप्ति, भयत्व रूपी दीमक किस प्रकार प्रत्येक जीव के जीवन रूपी क्षणों को निरन्तर खाये जा रहे हैं।

परन्तु वाल्मीकि को दीमक नहीं खातें हैं। क्यों ?

कहा न ! रसदार पेड़ पर दांत लगाते ही दीमक स्वयं मर जाते हैं। महर्षि श्रीराम नाम के रस से जीवन के हर क्षण को सींच रहे हैं। दीमक उन्हें खाने का प्रयास करते हैं, तो स्वयं मर जाते हैं। श्रीरामचन्द्र के नाम-रस से जीवन के हर क्षण को सींचना सीखो। विषय-वासना आदि सारे दीमक मर जायेंगे और तुम जिओगे।

गृहस्थ धर्म को आलोकित करने वाले प्रथम तथा प्रधान प्रकाश स्तम्भ महर्षि वाल्मीकि हैं। जीना भी एक कला है। महर्षि वाल्मीकि हमें, सुखद, वरद, आदर्श तथा सार्थक जीवन की कला सिखाते हैं। संसार बाम्बी से; दीमकों के डर से, भागो नहीं। कलापूर्ण जिन्दगी जीना सीखो ! सूखी जिन्दगी में श्रीराम-रस भरो। दीमक भाग जावेंगे। यह बीज मन्त्र है ! तत्क्षण धारण करो।

भारत की आदि संस्कृति तथा सनातन धर्म ने कलात्मक जीवन को ही धर्म की राह माना है। तथा परिपक्व मानसिकता को ही सुख का हेतु बताया। इसीलिए सनातन धर्म में, ग्रन्थ और वेद शास्त्रों को देने के साथ ही तर्क शास्त्र की कल्पना भी स्वीकारी गयी। बहुत से धर्म और सम्प्रदायों में अंधभक्ति, अंधविश्वास और अंधमान्यताओं को ही धर्म की राह बताया गया। भारत-भारती ने, तर्क की कसौटियों को, प्रकृति प्रदत्त साक्ष्यों को तथा एक उच्च निर्णायक निष्पक्ष मानसिकता को धर्म की उपलब्धि माना है। भारत के सन्त की आदि कालीन एक अनूठी देन हमें आदि ग्रन्थों में मिलती है। एक अद्भुत कल्पना है जिसे गणपति के स्वरूप में उभारा गया है।

हाथी की मस्ती नहीं जिसमें बह जायेगा कहाँ ?

उसकी उपलब्धि कैसी, उसकी राह कैसी, उसके जीवन का सार कहां ?

पूर्ण मानसिकता ही सुखद जीवन को स्वरूप दे सकती है, आप कल्पना करें कि जब तक आप गाड़ी चलाना सीख रहे थे। आपको अत्यधिक तनाव, डर और आतंक था। कहीं किसी से लड़ न बैठे। कहीं गिरकर चोट न खा जायें। जब तक आप गाड़ी चलाने के ज्ञान में परिपक्व नहीं थे। आप तनाव में थे। परन्तु जब आप गाड़ी चलाना सीख गये, उसमें पूरी तरह से परिपक्व हो गये तब आपको कोई भय अथवा तनाव नहीं रहा। उसके विपरीत आप गाड़ी चलाने का आनन्द लेने लगे थे। पूर्ण परिपक्वता ही आपको गाड़ी चलाने की अवस्था में गाड़ी के स्तर तक लाने में सफल हुई।

इसी प्रकार आज आपके जीवन में गृहस्थ धर्म में दुख और तनाव, पीड़ा और अभाव क्या इस बात को स्पष्ट नहीं कर रहे कि आप अभी गृहस्थी की गाड़ी चलाना नहीं सीख पाये। गृहस्थी की गाड़ी को चलाने में अभी आप परिपक्व नहीं हुए। आप एक बौनी मानसिकता के कारण अभाव, चिन्ता, तनाव आदि से स्वयं को मुक्त कर पाने की मानसिकता को आप प्राप्त नहीं हुए हैं। आपके जीवन में अभी हाथी की मस्ती का स्तर नहीं आया है। जब तक आप बाह्य जीवन में पूर्ण परिपक्व होकर गणपति की अवस्था को प्राप्त नहीं होंगे, अन्तर्मुखी होकर ध्यान अथवा समाधि की किसी अवस्था को कदापि नहीं पा सकते। तब तक गृहस्थ जगत का अज्ञान तथा अज्ञानता से उभरती वासनाओं के दीमक आपके जीवन के अमृत को चाटते रहेंगे।

एक सुखद और वरद जीवन की कल्पना को बड़े ही लीलात्मक ढंग से ऋषि वाल्मीकि अपने जीवन को घटनाक्रम से स्पष्ट कर रहे है। बाल्मीकि हमारी गृहस्थ सम्बन्धी पीड़ाओं का समाधान होकर हमारे सामने प्रस्तुत हैं।

जब भी मन श्री रामचन्द्र के पावन चरित्र तथा रूप रस माधुरी में रमा रहता है। हम ईर्ष्या और द्वेश के घुटन भरे विषाक्त मानसिकता से बचे रहते हैं। सर्दी, गर्मी, जाड़ा और बरसात हमारे जीवन के सुख–दुःख, जय–पराजय आदि ही तो हैं। राम रूपी रस से जीवन हर समय रसमय हो। उनकी सुन्दर मुखाकृति मेरे सुसुप्त मस्तिष्क में सदा जगमग मुस्कराती रहे। उनका पवित्र चरित्र, दार्शनिकता, समाज तथा सचराचर के प्रति समर्पित सेवा के भाव हमारे मन को सींचते रहें। तो स्वतः ही ये बौनी मानसिकता एक विशाल वृक्ष की तरह पूर्ण मानसिकता में लहलहा उठे। जीवन सुखद और वरद हो जाए। ऋषि वाल्मीकि को हम सब अपने जीवन में उतारें। उनके लीलात्मक स्वरूप से पूर्ण मानसिकता की ओर अग्रसर हो। श्रीराम कथा हमारे जीवन में अमृत दायनी हो।

★

ऋषि विश्वामित्र

"विश्वस्य मित्रः" विश्वामित्र ।

श्रीराम कथा के प्रकाश स्तम्भ है, राजर्षि विश्वामित्र । विश्व अर्थात् सारे संसार के मित्र! प्राणी मात्र का कल्याण चाहने वाले तथा जन कल्याण में निरन्तर प्रयत्नशील रहने वाले को विश्वामित्र कहते हैं । दूसरों के हित में जीना । जिस प्रकार आत्मा होकर, घट-घट वासी होकर, ईश्वर प्राणी मात्र को निष्काम सेवा कर रहे हैं; उसी भाव से प्रेरित होकर प्राणी मात्र की निष्काम सेवाओं को मनसा-वाचा–कर्मणा समर्पित होकर जीना विश्वामित्र है ।

जब तक श्रीराम की कथा में विश्वामित्र नहीं आते हैं, तब तक न तो ताड़का का वध होता है और न ही अहल्या का उद्धार होता है । हमारे जीवन में दूसरों को ताड़ना देने की वृत्ति अर्थात् ताड़का तब तक नहीं मरती, जब तक हम प्राणी मात्र में ईश्वर का भाव नहीं लाते हैं । ताड़का शब्द का अर्थ है सताना, पीड़ा देना, ताड़ना देना । मारीच शब्द का अर्थ है, अतृप्त वासनाओं के पीछे भागना । श्रीराम कथा में मारीच मृग तृष्णा बनकर प्रकट भी होता है । अतृप्तियों और बदले की भावनाओं को, अर्थात् मारीच और ताड़का को, जीवन से मिटाये बिना, राम तत्व की प्राप्ति हमें भी तो सुलभ नहीं होती है ।

जब तक श्रीराम विश्वामित्र का संग नहीं करते हैं तब तक पत्थर की शिला हो गयी, अहल्या भी पुनः जीवन्त नहीं हो पाती । हम भी तो अपने जीवन को पत्थर बनाये जा रहे हैं । आधी जिन्दगी, आधी राख ! चन्द कदम और········फिर चिता की लकड़ियों पर केवल राख ही राख ! हम राम को भुला बैठे हैं, तभी तो जीवन के जीवन्त क्षणों को पत्थर की शिला अहल्या बनाये जाते हैं । समर्पित सेवाओं का विश्वामित्र होता राह में तो मोक्ष पर जिन्दगी होती हमारी । फिर क्यों पत्थर बनते हमारे जीवन के अमृतमय क्षण ।

विश्वामित्र का स्थान श्रीराम कथा में अति दुर्लभ है । सम्पूर्ण वेदों ने विश्वामित्र को जीवन की राह बताया है । वेद में कथा आती है; कि जब परमेश्वर ने धरती बनायी, पेड़-पौधे और पशु-पक्षी बनाये । आत्मा होकर सचराचर को पुनः-पुनः उत्पन्न और धारण करने लगा तब उसने मनुष्य को भी प्रकट किया।

मनुष्य को प्रकट कर सृष्टा ने कहा जिस बाग को मैं हर क्षण आत्मा होकर प्रकट कर रहा हूँ, तू उस बाग की सेवा में मेरा साथ दे । मैंने तुझे बुद्धि देकर

इसीलिए उत्पन्न किया कि तू मेरा बेटा बन, मेरी राह आ। जिस सचराचर रूपी बाग को मैं हर क्षण प्रकट कर रहा हूँ, तू उस बाग का माली बन और मेरा साथ दे।

पिता बाग का मालिक है। मनुष्य होकर, उसके पुत्र होकर, हम सब बाग के माली हैं। प्राणी मात्र की समर्पित सेवा ही मनुष्य योनि का मूल उद्देश्य है। अर्थात् विश्वामित्र ही हमारी राह है।

सनातन धर्म में चूहे से लेकर शेर तक के मन्दिर बनाये गये हैं। यथा:– "गणपति के मन्दिर में चूहा, इन्द्र के मंदिर में हाथी, दत्तात्रेय के मन्दिर में कुत्ते, शंकर के मन्दिर में बैल, कृष्ण के मन्दिर में गाय, शीतला देवी के मन्दिर में गदर्भ (गधा)। शेर और चीता भी देवी के मन्दिर में हैं तथा यमराज के साथ भैंसा है। लगभग सभी जीवों के साथ किसी न किसी देवता का स्वरूप दिखलाया गया है, दर्शाया गया है। हर जानवर के साथ कोई न कोई देवता खड़ा है। मंदिरों की इस लीला का मूल रहस्य है :–

"यदि हम जीव मात्र को सुखद जीवन न दे पाये, तो क्योंकर हम ईश्वर के बेटे हुए. क्योंकर हम मनुष्य कहलाये।"

भारत की संस्कृति आदि काल से प्राणी मात्र की सेवाओं को मूल मानती रही है। श्रीराम कथा का यही विश्वामित्र है। विश्वामित्र जब तक कथा में श्रीराम के पास नहीं आते श्रीराम का जानकी से मिलन भी नहीं होता है। यह भी हमारी ही एक मार्मिक कथा है। जब तक जीवन प्राणी मात्र की समर्पित सेवाओं को अंगीकार नहीं करता; और उसे आत्म दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है। यही राम और जानकी का सहज, सुलभ मिलन है।

विश्वामित्र का अतीत भी बड़ा विचित्र रहा है। वे क्षत्रिय कुल में जन्में हैं और मुनि वशिष्ठ से पराजित होने के कारण वे राज-पाट का परित्याग कर तपस्वी हो गये और उन्होंने ब्रह्मर्षि का महान पद पाया। मुनि विश्वामित्र, प्रत्येक बार तपस्या को प्राप्त होकर वशिष्ठ से संघर्ष के लिए आते थे और पुनः-पुनः पराजित होते थे। परन्तु वे न तो वशिष्ठ को जीत पाते थे और न ही उनका वशिष्ठ से समझौता हो पाता था। वे पुनः तपस्याओं को लौट आते थे।

एक बार उन्हीं का वंशज राजा त्रिशंकु वशिष्ठ पुत्रों से अभिशप्त हुआ और मलेक्ष हो गया। इसी अवस्था में वह विश्वामित्र मुनि के पास गया। उनको अपनी पीड़ा सुनायी। प्रार्थना की कि वे उसे सशरीर स्वर्ग में भेज दें। मुनि विश्वामित्र मान गये तथा उन्होंने अपने तप के बल से उसे गगन में उठाना आरम्भ कर दिया। त्रिशंकु आकाश में सदेह उठने लगा। उनके तपोबल से निरन्तर गगन में उठता चला जा रहा था। देवलोक के राजा इन्द्र को ये सहन न हुआ। उस गगन में ही त्रिशंकु को रोक दिया तथा विश्वामित्र मुनि से कहा कि वे सृष्टि के नियम भंग न करें। मुनि विश्वामित्र नहीं माने। तब इन्द्र ने अपनी शक्ति से त्रिशंकु को गगन में ही रोक दिया। राजा त्रिशंकु की विचित्र स्थिति हो गयी। विश्वामित्र उसे नीचे न आने दें और इन्द्र उसे ऊपर न उठने दें। महाराज त्रिशंकु बीच गगन में टंगे से रह गये। तब मुनि विश्वामित्र को भयंकर क्रोध हुआ। उन्होंने महाराज त्रिशंकु से कहा :–

"त्रिशँकु तुम भय मत करो। यदि देवेन्द्र तुम्हें स्वर्ग नहीं जाने देते तो मैं तुम्हारे लिए एक नये स्वर्ग लोक की सृष्टि करूँगा। इसी गगन में नये गृह और नक्षत्र प्रकट होंगे। तुम्हारा लोक इन्द्र के स्वर्ग से भी अति सुन्दर होगा।" ऐसा कहकर विश्वामित्र नये सचराचर की रचना में लग गये। तभी सारे देवताओं ने मुनि विश्वामित्र से प्रार्थना करी कि वे हठ का परित्याग कर दें। परन्तु विश्वामित्र नहीं माने। तभी ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी वहां पधारे और उन्होंने कहा :–

"हे ब्रह्मर्षि विश्वामित्र! मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप हठ का परित्याग कर दें।"

जैसे विश्वामित्र यही वाक्य वशिष्ठ से सुनना चाहते थे। उन्हें लगा उनकी युगों की साधना पूरी हो गयी। उन्होंने हठ का तत्क्षण परित्याग कर दिया और वशिष्ठ से बोले :–

"महामुनि इस ब्रह्मर्षि को सुनने के लिए ही मैं निरन्तर आपसे संघर्ष करता रहा; पर मुझे आपने कभी भी सम्बोधन स्वरूप नहीं पुकारा। आप मुझे सदा राजर्षि ही कहते रहे हैं। आपने आज ब्रह्मर्षि क्यों कहा?"

मुनि वशिष्ठ ने उत्तर दिया :–

"महामुनि आप इस भ्रांति में थे कि आप क्षत्रिय हैं इसलिए आप ब्रह्मर्षि पद के अधिकारी नहीं हो सकते। यह असत्य है। हे महामुनि! ऋषि कहते हैं साधक को। ऋषि शब्द का अर्थ साधक होता है। महर्षि शब्द का अर्थ परम् उच्चकोटि का तपस्वी है। राजर्षि शब्द का अर्थ है, जो आत्मा की स्निग्ध ज्योतियों का वरण कर गया हो। राज शब्द अर्थात् ज्योति हैं। ब्रह्मर्षि का अर्थ है, जो ब्रह्म अर्थात् आत्मा की भांति सृष्टि संरचना में समर्थ हो गया हो। उसे ब्रह्मर्षि कहते हैं। हे मुनि राज! आज आपने त्रिशंकु को गगन में उठाकर, नए लोक की संरचना आरम्भ करके, सिद्ध कर दिया है कि आप आत्मा की भांति सृष्टि की संरचना के रहस्य को पा गये हैं। इसलिए आप ब्रह्मर्षि पद के अधिकारी हैं। इन शब्दों का किसी जाति अथवा कुल से कोई सम्बन्ध नहीं। जब तक आप सृष्टि की संरचना की सामर्थ्य को सिद्ध नहीं कर पाये, मैंने आपको राजर्षि के नाम से ही पुकारा। परन्तु आज से आप ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के नाम से ही जाने जायेंगे।"

सभी देवताओं ने ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की पूजा, आरती की। देवराज इन्द्र ने त्रिशंकु से देह त्याग करवाया और उसे स्वर्ग लोक ले गये। उसके शरीर का पुनः धरा पर पात हो गया। ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ऋग्वेद का आरम्भ है। विश्वामित्रजी के ज्येष्ठ पुत्र कहलाते है मधुच्छन्दा ऋषि तथा शेष पुत्र माधुच्छन्दस कहलाते हैं। इस प्रकार चारों वेदों में प्रथम–वेद, ऋग्वेद का आरम्भ विश्वामित्र के बेटे ही करते हैं।

राम कथा को पाने के लिए विश्वामित्र को ; हम सबको, अपने जीवन की धारा बनाना होगा। तभी इस कथा के मर्म को, इसमें छिपे हुए अमृत को, पीकर हम भी सत्य की राह पर चल सकेंगे।

★

मुनि वशिष्ठ

"वसति इष्ठम् इति वशिष्ठ।"

जो अपने ही इष्ट में बसा हुआ है। जिससे अपने अराध्य को ही सब कुछ मान लिया है। जिसके जीवन का प्रत्येक क्षण अपने इष्ट को समर्पित हो गया। जो अपने इष्ट में ही जीवन का प्रत्येक क्षण जी रहा है। उसे वशिष्ठ कहते हैं। उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते जो सदा अपने ही अराध्य में खोया हुआ है। उसे स्कूल में वशिष्ठ कहते हैं।

"वसति इष्ठम् वशिष्ठम्" इष्ट में बस रहा है। रम रहा है। वही वशिष्ठ है। पूजा, साधना और तपस्या की पूर्णता ही वशिष्ठ है। मन दशरथ हो भी जाए। दस इन्द्रियों का निग्रह भी कर ले, तो भी वशिष्ठ के बिना, दशरथ को श्रीराम की प्राप्ति नहीं होती। श्रीराम की कथा में दशरथ जी को भी वशिष्ठ की ही मंत्रणा पर चौथे-पन में भगवान श्रीरामचन्द्र की पुत्र रूप में प्राप्ति होती है। इसी प्रकार दशरथ हो गये मन को भी जब तक वह अपने ही अराध्य में ही हर क्षण के लिए बसता, उसकी पूजा, उसकी तपस्या, उसकी साधना पूर्णता को प्राप्त नहीं हो पाती। मुनि वशिष्ठ श्रीराम कथा का अन्तर हृदय हैं। इष्ट में बस कर ही जीने वालों का जीवन सार्थक है। यही ब्रम्हर्षि वशिष्ठ का स्वरूप है।

हम विचार करें, कि हमारे जीवन की सुख और शान्ति तभी तो सम्भव हो सकती है; जब हम अपने मन को, सदा अपने अराध्य में रमाये रखें ; जैसा कि हमने महर्षि बाल्मीकि के स्वरूप में देखा है। गृहस्थी है तो भी मन जब तक राम रूपी रस से भरा नहीं रहता। हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण को विषय वासना, असत्य और अज्ञान रूपी दीमक खाते ही रहते हैं और जीवन का अमृत यूं लुटता चला जाता है। उसी प्रकार जो अपने अराध्य में नहीं बसा उसकी तपस्या कैसी ! उसकी साधना कैसी !! गृहस्थ को भी सुख की प्राप्ति, राम में बसकर ही होती है। गृहस्थ धर्म श्रीराम रूपी रस को हर क्षण, चिन्तन में धारण कर, गृहस्थ अपने जीवन को अमृतमय. बनाता है। उसका गृहस्थ धर्म सफल होता है और उसे जीवन के अमृत की प्राप्ति होती है। समर्पित सेवाओं का विश्वामित्र भी तभी सार्थक होता है कि जब–

"मन में ध्यान, हाथ में सेवा, चल मेरे देवा।।"

जैसा कि ऋग्वेद में कहा :–

देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः । महामनूषत श्रुतम् ॥ १.६.६.

अर्थात् (देवयन्तो यथा) आत्मवत हो गया जो ! (मतिमच्छा) जिसकी मती आत्मा में व्याप्त होकर निर्मल हुई (विद्द्वसम् गिरः) जिसकी विद्वता में कर्म की सम्पूर्ण अग्नियों में तथा जिसकी वाणी में एक आत्मा, अनन्त एक अराध्य बन विराजै (महामनूषत श्रुतम्) श्रुतियाँ कहती हैं कि उस अनन्त महामनु अर्थात् अनन्त पिता परमेश्वर को अपने अराध्य को पाया और अनन्त हो गया।

वेद की इस ऋचा में भी, निष्काम सेवाओं की सार्थकता भी, अपने अराध्य में सदा मानसिक स्तर पर जुड़े रहने से है। जहाँ केवल मानसिकता ही मेरे अपने अराध्य से नहीं जुड़ेगी; वरन् सर्वांगमय अपने अराध्य में, अंग-अंग में, रोम-रोम में, धारण करता हुआ वशिष्ठ हो जाऊँगा। इस प्रकार वशिष्ठ मुनि तीसरे स्तर पर आते हैं। गृहस्थ के धर्म को महर्षि बाल्मीकि जी सुना रहे हैं! दिखा रहे हैं! वरद कर रहे हैं! निष्काम सेवाओं से प्राणी मात्र को समर्पित होकर, जीने की कला के प्राणाधार, मुनि विश्वामित्र है। तीसरे स्तर का जीवन; अर्थात् गृहस्थ से और वानाप्रस्थ से उपराम हुआ, जब मनुष्य सन्यास को जाता है तो तीसरे स्तर का जीवन उसका एक सन्यासी का होता है उसका स्वरूप कैसा हो? उसका चलन कैसा हो? ये मुनि वशिष्ठ स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार इन तीनों ऋषियों की त्रिवेणी ही जीवन का महाकुम्भ पर्व है! यही जीवन का सत्य है, अमृत हैं।

वशिष्ठ हो गया व्यक्ति संसार को भुला देता है। उसका अतीत खो जाता है। वह अपने भविष्य से निर्लिप्त हो जाता है। केवल मन से वशिष्ठ हो अपने ही अराध्य में बसा हुआ हर क्षण वर्तमान जिया करता है। यही सन्यास का सत्य स्वरूप है। वशिष्ठ हमारे जीवन का मात्र लक्ष्य है। जीवन की सार्थक उपलब्धि, वशिष्ठ ही है। जीवन का आरम्भ अपने आप को पढने और व्यवहारिक स्तर पर जानने का धर्म ही गृहस्थ धर्म है। जो बाल्मीकि है। फिर उन क्षणों को सार्थक होकर जीने की कला विश्वामित्र है जो वानाप्रस्थ धर्म और निष्काम सेवाओं का महातप है। इन सबसे आगे बढ़ते हुए जब अपने ही अंतर में जलने की; आत्म ज्योतियों में जलकर एक हो जाने की इच्छा हो जाती है तो जीवन का वशिष्ठ प्रकट हो जाता है ये निर्मल स्वरूप ही मुनि वशिष्ठ का है।

कल्पना करें आप रामलीला नाटक देख रहे हैं। अति सुन्दर मंच लगा हुआ है। नन्हीं–नन्हीं बत्तियों से पण्डाल, दर्शक–दीर्घा, एवं मंच प्रकाशित हैं। कहीं–कहीं पर बड़े बल्ब भी विशेष प्रकाश हेतु लगाये गये हैं। मंच पर तीन विशाल प्रकाश स्तम्भ (फोकस) लगे हुए हैं। एक मध्य में, बाकी दायें–बायें। पात्र बड़े ही सुन्दर नाट्य–शैली के अनुरूप सजे बड़ी कुशलता से अपने संवाद एवं अभिनय से दर्शकों को मोह रहे हैं। दर्शक तल्लीन भाव से नाटक का आनन्द ले रहे हैं। तभी बत्तियां अचानक बुझ जायें! अन्धेरा हो जायें! बिजली के अभाव में मोमबत्ती के प्रकाश में

नाटक को आगे बढ़ाने का उपक्रम करे कोई ! तो क्या दर्शकों को वही आनन्द मिलेगा? धुंधली रोशनी में स्वरूप अस्पष्ट हों ! परछाई मात्र लगे ! ठीक से पता ही न चले किसने क्या कहा ? आंखों पर जोर डालकर देखना पड़े। तो उस अवस्था में आप ठीक से सुन भी तो न पायेंगे। आंखों में फंसा मन स्वभावतः श्रवण इन्द्रियों की उपेक्षा करेगा। संवाद का रसभी जाता रहेगा।

श्रीराम कथा के अमृत का पान करके वही धन्य होगा जो कथा के इन प्रकाश स्तम्भों से निज मानस को आलोकिक करे। पुनः उसी प्रकाश में मानस–लीला का अमृत पान करता हुआ अपने जीवन के सभी स्तरों को पवित्र कर जीवन धन्य करे। वे तीन महान प्रकाश स्तम्भ हैं :–

महर्षि बाल्मीकि, रार्जषि विश्वामित्र, एवं ब्रम्हर्षि वशिष्ठ।

इन तीनों ऋषियों को हम अपने जीवन की इस नाट्यशाला का प्रकाश स्तम्भ बनायें। तभी जीवन रूपी इस नाटक की सार्थकता होगी। आप कल्पना करें कि जैसे राम लीला के मंच पर पात्र केवल अभिनय करते हैं। बालक उत्पन्न नहीं होता बालक के उत्पन्न होने का अभिनय होता है। रावण नहीं मरता वरन् रावण रूपी पात्र मारने का अभिनय करता है। ठीक उसी प्रकार आपने भी तो अपने जीवन में मात्र नाटक ही किया। ये भौतिक जीवन हमारा एक सजा हुआ नाटक का स्थल एक नाटक ही तो है। हममें कौन है जो बोरी भर मिट्टी से एक समय का भोजन, अन्न आदि बना पाया हो, पेड़ों की शरण हुए बिना। तो हमने पेट भरने का अभिनय ही तो किया। पुनः आप विचार करें कि जब आप एक बूंद रक्त की थाली भर भोजन से न बना पाये। तो आपने लड़का कब बनाया? आपने बालक को उत्पन्न करने का एक अभिनय ही तो किया था। असत्य और अज्ञान के कारण ही तो आप मान बैठे थे कि आपने उसको पैदा किया है। अन्यथा आत्मा होकर ईश्वर ही तो हर घटमें बालक को प्रकट कर रहा है। इस प्रकार विद्वता का भी हम मात्र अभिनय ही तो करते हैं। जब तन का एक रोम न बना पाये तो हममें ज्ञानी कौन है ? जीवन रूपी नाट्यशाला को यदि हम जीवन रूपी राम लीला के मंच का नाटक बना दें। तो हमारा जीवन सार्थक हो जाये। और उस मंच को अलौकिक तीनों प्रकाश स्तम्भ बाल्मीक, विश्वामित्र और वशिष्ठ भगवान राम की कथा में आगे प्रवेश करते समय हम इन तीनों प्रकाश स्तम्भों से अपने मस्तिष्क को प्रकाशित और आलोकित रखें। हमें इस कथा क्रम में बहुत ही अमृत की अद्भुद सुख की प्राप्ति होगी।

★

देवर्षि नारद

तीन प्रकाश स्तम्भ, मंच के धरातल, पर आलोकित हैं। बाल्मीकि, विश्वामित्र और वशिष्ठ ! एक विशालकाय प्रकाश स्तम्भ मंच के ऊपर से नीचे प्रकाश फेंक रहा है। लीला नायक भगवान श्री महाविष्णु इसी प्रकाश स्तम्भ से प्रकाशित होकर लीलावतरण के मनोहारी दृश्य को भक्त मात्र के सुख के लिए प्रकट करेंगे। यह प्रकाश स्तम्भ नहीं होगा तो लीलावतरण का दृश्य भी स्पष्ट नहीं होगा। भक्त प्यासे रह जायेगें ! राम कथा में श्रीरामचन्द्र के धरा पर अवतरण का उद्देश्य हो स्पष्ट नहीं होगा। जब दर्शक कथा का उद्देश्य ही नहीं जानेंगे तो कथा का उनके जीवन पर इच्छानुकूल प्रभाव भी तो नहीं होगा। लीला की सार्थकता दर्शकों पर न्यून प्रभाव डालेगी ! यह महान प्रकाश स्तम्भ हैं...... देवर्षि नारद ! इनके प्रकाश से सारा मंच आलोकित है ! चमचम कर रहा है। जगमग हो रहा है। इसे सदा प्रकाशित रहने दो। कभी भी भटकाव को प्राप्त नहीं होंगे। निश्चित रूप से साकेत में सदा वास करोगे।

नारद मोह की कथा श्रीराम कथा का बीज हैं। देवर्षि नारद ही लीला का निमित्त कारण बनते हैं। शेष शैंय्या पर लेटे नारायण को उठाकर बिठाने ही नहीं वरन् भूमण्डल पर अवतरित होकर बन-बन में परेड कराते हैं। नारद ही सक्षम हैं। भक्त ही भगवान को मजबूर कर सकता है। भगवान भक्त को नहीं ठुकरा सकते। नारद भक्त हैं।

संक्षिप्त कथा है ! नारदजी के मन में विचार उठा कि नारद नारायण के सबसे समीप, अनन्य एवं सबसे बड़े भक्त हैं। दम्भ ने असावधान पाकर नारद को धर दबोचा। बाल्मीकि भाव हटा नहीं दम्भ रूपी दीमक नारद जैसे तपस्वी को भी नहीं छोड़ता। नारायण मंत्र का निरन्तर जाप भूलकर नारद विचारों के भ्रमजाल में फँस गये। रस के हटते ही क्षण सूखे और दम्भ रूपी दीमक ने दाँत गड़ा दिये। नारदजी दम्भ को प्राप्त हो गये। महाविष्णु से यह बात भला छिपती कैसे ? अन्तर्यामी ने सब जान लिया। भक्त वत्सल भगवान भला नारद ऐसे भक्त को कैसे नष्ट होने दें। उसका उद्धार तो करना ही होगा। श्री महाविष्णु

ने लीला रची । माया नगरी मृत्युलोक (धरती) में प्रकट हो गयी । नगरी के महा-
राजा की विश्वमोहिनी, अति सुन्दर कन्या प्रकट हो गयी । नारायण द्वारा प्रेरित
नारद मृत्युलोक में विचार करते हुये इस माया नगरी में महाराज के आतिथ्य को
प्राप्त हुए । सेवा, स्वागत, पूजा के उपरान्त महाराज ने अपनी कन्या विश्वमोहिनी
का नारद जी से भविष्य जानना चाहा । नारद जी ने विश्वमोहिनी का दर्शन
पाया तो मोहासक्त हो गये । उसके रूप सौन्दर्य में ही खो गये । महाराज ने पुनः
प्रार्थना की कि नारदजी मेरी बेटी का हाथ देखकर बतायें कि इसको पति
कैसा मिलेगा ।

नारद जी चौके । विश्वमोहिनी का हाथ देखने लगे और रेखायें अपनी मिलाने
लगे । काश ! यह सुन्दरी मेरी पत्नी होती ! मन में तूफान उठ रहा है । देखते हैं
हाथ तो हाथ के स्थान पर विश्वमोहिनी की मनोहारी छवि अंकित हो उठती है ।
नारद जी बेचैन हैं । विश्वमोहिनी को पाने को व्याकुल हैं । देखते हैं रेखा हाथ में
तो दिखती है उसकी कमानीदार भौहें ! बेचारे नारद !

ध्यान, नाम, जाप रूपी रस के सूखते ही दम्भ दीमक ने दांत गड़ा दिये
और फिर दीमक काटने लगे ! दम्भ, भ्रम, मोहासक्ति, अतृप्ति फल पाने की लिप्सा
और भटकाव! बाल्मीकि को कभी न बिसराओ । संसार दीमकों की बाम्बी है । प्रभु
ध्यान, नाम; समर्पण; आचरण, व्यवहार रूपी रस से जीवन क्षणों को सींचते जाओ!

नारद जी वहाँ से चल दिये । पर जायें कहाँ ? मन तो वहीं बैठा विश्वमोहिनी
की छवि निहार रहा है । अब तो नारायण भी फीके लगते हैं । ध्यान-बयान में कुछ
मजा नहीं है । विश्वमोहिनीं नहीं तो जीवन भी निरर्थक और नारायण भी । मोहा-
सक्ति जीवन को कितना भटका देती है । नारायण हरि !

चिन्तित, व्याकुल, भ्रमित मोहासक्त नारद जी महाविष्णु के सम्मुख प्रकट हो
जाते हैं । अतृप्ति ने उनके मुखमण्डल की कान्ति को नष्ट कर दिया है । नारद पुकार
तो रहे हैं । नारायण ! नारायण ! ! परन्तु अन्तर्मन पुकारता हाय, विश्वमोहिनी! हाय
विश्वमोहिनी! हाय विश्वमोहिनी! ! नारायण नारद जी से उदासी का कारण पूछते हैं ।
नारद भला क्या कहें ? मिथ्याभिमान ध्येय भी तो स्पष्ट करने नहीं देता ! थोथे
सम्मान का तथाकथित भाव सच भी तो नहीं बोलने देता । नारद कैसे कहें मुझे

प्यारी विश्वमोहिनी दिला दो। इज्जत का भी तो सवाल है न ! सहमते, सकुचाते नारद इतना ही कह पाते हैं:—

"हरि ! मुझे हरि का रूप दो !"

महाविष्णु मन ही मन मुस्कराते हैं। यही नारद है न ! कल तक इसे यह दम्भ था कि नारायण का अनन्य और समीपस्थ भक्त यही है। आज विश्वमोहिनी इतनी अधिक समीप हो गई है कि नारायण से पाप माँगता नारद ! पाप कैसे?

हरि का रूप लेकर भी नारद तो नारद ही रहेगा न ! नारायण तो नहीं होगा हरि का मात्र बाह्य दिखावा ही होगा। नारद नारायण से ढोंग माँग रहा है। क्या यह पाप नहीं है ? जब भी मोहासक्ति; अतृप्ति और संसार रूपी विश्वमोहनी अर्थात् लिप्सायें हमें घेरती हैं हम भी तो प्रतिदिन पूजा में नारायण से पाप ही तो माँगते हैं। नारद हमें हमारी पूजा में निहित ढोंग और पाप दिखावा कर रहे हैं। नारद रूपी प्रकाश स्तम्भ में अपने आचरण और भक्ति को स्पष्ट रूप से देखते और पढ़ते चलो। अन्धेरे में जिसे सत्य मान बैठे थे उस भ्रम का भी निवारण करते चलो।

महाविष्णु मन ही मन विचार कर रहे हैं कि देखो नारद की भक्ति ज्ञान और वैराग्य के लुप्त होते ही मोह और वासना के दलदल में जा फंसी है। नारद मुझसे भी पाप करने को कह रहा है। नारद मोह और वासना के दलदल में फंस गया है। अब यह निकल नहीं सकता है ! क्यों?

दलदल में फँसा व्यक्ति जितना भी जोर लगायेगा, प्रयास करेगा उतना ही अधिक दलदल में फँसता चला जावेगा। इसलिये नारद इस दलदल से निकल नहीं सकता। नारद है तो मेरा प्यारा भक्त ! क्यों न, इस दलदल को मैं ही ओढ़ लूं और नारद निर्मल हो जाये। ऐसा सोचकर परम दयालु, परम कृपालु भक्त वत्सल नारायण भगवान विष्णु नारद के उद्धार के लिये उसे बन्दर का स्वरूप प्रदान करते हैं। भला यह कौन सी दया की ? बन्दर का चेहरा ?

जी हाँ ! नारायण यदि अपना स्वरूप प्रदान करते तो नारद क्या मोह और वासना के दलदल से उबर सकता था ?

एक बार भगवान श्रीरामचन्द्र ने प्रसन्न होकर हनुमन्तलाल से कहा, "हनुमान तुम कहो तो इस बन्दर रूप के स्थान पर तुम्हें अति सुन्दर देव स्वरूप प्रदान करूँ ?"

ब्रह्मज्ञानी, परम तपस्वी हनुमान ने हाथ जोड़कर विनती की, "नारायण ! इससे सुन्दर दूसरा स्वरूप क्या होगा। जो नारद जैसों का उद्धार कर सके?"

हरि माने विष्णु तो हरि का दूसरा अर्थ बन्दर भी है। रूप मिला हरि का ही नारद को ! बन्दर बने नारद मुदित मन चल दिये स्वयंवर में ! अब तो विश्व-मोहिनी का वरण करके ही रहेंगे।

स्वयंवर स्थल की छटा देखते ही बनती थी। नाना देशों के राजा विराजमान थे। दम्भ से ऐंठते हुये नारद उनके मध्य चहल कदमी करने लगे। सब उनकी लीला का आनन्द लेने लगे। दम्भी व्यक्ति समाज में सदा उपहास का पात्र बनता है।

विश्वमोहिनी आई। नारद जी उसके सामने जाकर खड़े हो गये। विश्वमोहिनी घूमकर चली गई। नारद ने बहुत बार ऐसा किया और उपेक्षित हुये। उनके करतब देखकर सभी राजा लोंग हँस रहे थे। तभी महाविष्णु प्रकट हुये और विश्वमोहिनी ने उनके गले में जयमाला डाल दी। नारद का तो संसार ही लुट गया। उसे अपनी आंखों पर विश्वास ही नहीं हो रहा था। भगवान के साथ उनके अंगरक्षक जय और विजय वहां उपस्थित थे। नारद को मूर्छा में देखकर जलाशय के समीप ले जाकर उसके मुँह पर जल की छींटे देने लगे। नारद जी सचेत हुये। तभी जल में उन्होंने अपनी छवि को निहारा। बन्दर !!

नारद जी को सत्य का भान हुआ ! नारायण ने उन्हें बन्दर का रूप देकर जग हँसाई ही नहीं की वरन उनकी प्रणय वेदना पर भी निमर्म प्रहार कर नष्ट कर दिया! नारद की दुनियां लुट गयी। दुखी, शोकातुर नारद में क्रोध और प्रतिशोध का भाव प्रवल हो उठा उन्होंने जय और विजय को अभिशप्त किया जो रावण एवं कुम्भकर्ण बने। पुनः नारद ने महाविष्णु को भी श्राप दे डाला। जो नारायण की लीला का कारण बना। जैसे ही नारद ने महाविष्णु को अभिशप्त किया वहां एक विलक्षण घटना घटी। न वहां राज्य था, न राजा, न स्वयंवर ! महाविष्णु मुस्करा रहे थे ! लक्ष्मी जी उनके बगल में थीं। नारद स्तब्ध, अवाक देख रहा था सचेत हुआ ! वस्तुस्थिति का

भान होते ही नारायण के चरणों से लिपट कर रोने लगा। अभिशाप के रूप मोहरूपी
दलदल का श्री भगवान ने वरण किया। नारद निर्मल हो गए। चरणों पर गिर
पड़े। "नारायण! आपका दास नारद, यह क्या कर बैठा? आपके नाम के बिना
जिसकी सांस भी न चलती थी। आपके स्मरण के बिना हृदय की कोई धड़कन न
थी। आपके स्वरूप चिन्तन के बिना जो आंखें कभी कुछ देखती न थीं। नारायण!
ऐसा नारद आपको अभिशप्त कर सका? हा देव! यह सब कैसे हो गया!!"

नारद दुखी, आर्त होकर प्रायश्चित की अग्नियों में झुलसता फूट-फूटकर रो
रहा था। भगवान श्री महाविष्णु ने नारद को सान्तवना देते हुए कहा, "नारद! तुम
शोकमुक्त हो जाओ। यदि मैं न चाहता तो क्या तुम मुझे अभिशप्त कर सकते थे?
क्या मेरी इच्छा के विपरीत एक पत्ता भी हिल सकता है? नारद! मैंने देखा
तुम्हारी भक्ति; ज्ञान और वैराग्य के लुप्त होते ही मोह, वासना के दल–दल में
जा फँसी। मोहान्ध तुम मुझमें भी पाप कामना करने लगे हो। मैंने चाहा कि तुम्हारा
उद्धार हो जाये तथा इस मोह और वासना के दल-दल को मैं स्वयं ओढ़ लूँ। इसीलिए
नारद! मेरी इच्छा से ही तुमने अभिशाप के रूप में इस मोह और वासना रूपी
दल-दल को मुझे ओढ़ाया है। और तुम पुनः निर्मल हो गये हो। भक्त मुझे प्राणों
से भी अधिक प्रिय है। मैं भक्त मात्र का सेवक हूँ! हितैषी हूँ। नारद! दुखी मत
हो। मैं स्वेच्छा से ही तुम्हारे द्वारा अभिशप्त होकर मृत्युलोक में लीलावतार धारण
कर, धरती से मोह और वासना रूपी दलदल को मिटाने जा रहा हूँ। जिस धरती
पर नारद जैसे प्रिय भक्त भ्रमित हों! जहां भक्ति ज्ञान और वैराग्य से विलग होकर
मोह और वासना के दलदल में बन्दी हो जाये; वहाँ मेरा जाना परम आवश्यक है।
जीव की भक्ति को ज्ञान और वैराग्य से पुष्ट करने; मोह और वासना के दलदल
को मिटाने; मैं शीघ्र लीलावतार धारण करूँगा।"

यही राम कथा का मूल उद्देश्य है। नारद शब्द का संस्कृत में अर्थ है :–
"एक केन्द्र के चारो ओर वृताकार घुमने वाला।" पुराने समय में धूप घड़ी द्वारा
समय देखा करते थे। घड़ी के मध्य में, केन्द्र पर, सूर्य की धूप से पड़ने वाली परछाई
को नार्द कहते हैं। यह परछाई ढाई पल से अधिक एक स्थान पर नहीं रूकती। यदि
रूक जायेगी तो समय का भान कैसे होगा। देवर्षि नारद भी ढाई घड़ी से अधिक
कहीं नहीं रूकते हैं।

आत्मा रूपी केन्द्र के चारो ओर जन्म और मृत्यु की निर्बाध गति से निरन्तर परिक्रमारत जीवन ही तो नारद है। श्री राम कथा में नारद जीव का ही अभिनय कर रहे हैं। हमें हमारे रूप दिखा रहे हैं। मेरे ही दो चेहरे ! मैं देख रहा हूँ नारद के रूप में !

जब ज्ञान और वैराग्य से पुष्ट हूँ तो नारायण का अनन्य भक्त हूँ !

जब मोह और वासना के दलदल में हूँ तो विश्वमोहिनी अर्थात् विषयाक्त विश्व की मोहासक्ति का भक्त हूँ। तब ईश्वर, विषयाशक्ति एवं भौतिक अभिलाषाओं और लिप्साओं की पूर्ति का साधन मात्र है। ईश्वर गौण है संसार प्रधान है।

जब ज्ञान और वैराग्य से पुष्ट हूँ तो नारायण के प्रति भक्ति प्रधान है। संसार ईश्वरमय होने से सेवार्थ ईश्वर के उपरांत है। विषयासक्ति गौण है अथवा उसका पूर्ण अभाव हैं।

देवर्षि नारद कथा का आलोकित प्रकाश स्तम्भ हैं।

"जीव की भक्ति को मोह और वासना के दलदल से छुड़ाकर, ज्ञान और वैराग्य से पुष्ट करने हेतु ही नारायण ने श्री रामचन्द्र के रूप में लीलावतार धारण किया है।"

इस महावाक्य को निरन्तर ध्यान में बिठाकर प्रभु कथा का श्रवण करो। प्रकाश स्तम्भ को निरन्तर जगमगाने दो। उद्देश्य को भूलकर कथा सुनाने वाले इच्छित फल अर्थात् प्रभु को प्राप्त नहीं होते। नारद मोह कथा रहस्य को बारम्बार दुहराओ। श्री राम कथा मोक्षदायिनी है।

जब जीव अतृप्त होता है। उसकी इच्छायें उसे भटका रही होती हैं। उसकी तपस्या अभोष्ट न प्राप्त करके अन्धता को प्राप्त होता है। श्रवण कथा का श्रवण करो।

ऋषि कुमार श्रवण

श्रवण का उद्गम अन्धा है। यह सत्य है कि वह अन्धता को श्रद्धा, आस्था भक्ति एवं निष्ठापूर्वक कन्धों पर लादे फिरता है। परन्तु उसकी परिणति अकाल मृत्यु ही तो है। श्रवण अन्धता के सहारे चलाया गया शब्द भेदी बाण दशरथ का; दशरथ को अभिशप्त करता है। राम की विरह की अग्नि में दशरथ भी असमय मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

रे भक्त महान ! श्रवण अन्धता को नेत्र दो ! श्रवण अर्थात् कान से नहीं आंखों से देखना सीखो। श्रुत को दृष्ट करना सीखो ! जिसने श्रुतियों को दृष्टा बनके देखा उसका ब्रह्मज्ञान ही सार्थक है। श्रवणकुमार की कथा श्रीराम कथा में जगमगाती मणि के समान है।

ऋषिकुमार श्रवण के माता–पिता अन्धें हैं। घनघोर, तपस्वी, परमज्ञानी परन्तु नितान्त अन्धे ! क्यों ? वे क्या जन्मान्ध थे ?

जी नहीं! ऋषि दम्पत्ति अन्धे नहीं थे। सुरम्य वन में नारायण की अनन्य तपस्या साधना में तल्लीन रहते। कन्दमूल खाते सुखद तपस्या में संलग्न थे। लगभग सारी इच्छायें उनकी समाप्त हो चुकी थी। एक ही दुख था जो उन्हें असावधानी के क्षणों में यदा-कदा सालता था। वे निसन्तान थे। सन्तान मोह से पूर्णतः मुक्त नहीं थे। सन्तान का अभाव उन्हें खटकता रहता था।

एक बार देवर्षि नारद ऋषि दम्पत्ति के यहां पधारे। दम्पत्ति ने उनका भरपूर स्वागत किया। वार्ता के दौरान नारद जी ने उनको बताया कि देवर्षि नारद महाविष्णु के दर्शन हेतु क्षीर सागर जा रहे हैं। ऋषि दम्पप्ति अपने लोभ का संवरण न कर सके। नारद जी से प्रार्थना की कि "नारद जी महाविष्णु से पूछना ; हमें सन्तान सुख कब होगा?" पुत्र रत्न की प्राप्ति की उनकी उत्कट अभिलाषा है।

देवर्षि नारद ने उनके प्रश्न को महाविष्णु के सम्मुख रखा। महाविष्णु ने कहा:-

"नारद ! उन्हें बता दो कि उनको सन्तान सुख नहीं है। वे सम्पूर्ण इच्छाओं का परित्याग कर तपस्या में तल्लीन हों। उनका यह जन्म अन्तिम है। मोक्ष को धारण करने योग्य हैं। व्यर्थ में स्वयं को भटकावें नहीं।"

देवर्षि नारद ने महाविष्णु के संवाद को ऋषि दम्पत्ति को ज्यों का त्यों सुना दिया। वे आश्वस्त न होकर उद्विग्न हो उठे। पुत्र प्राप्ति का हठ कर बैठे।

हठपूर्वक वे घनघोर तपस्या में लीन हो गये। उनके तप के ताप से देवता सन्तप्त हो उठे। तपस्या रंग लाई। महाविष्णु प्रगट हो गये और ऋषि दम्पत्ति से कहा वर मांगों! ऋषि दम्पत्ति ने कहा, "नारायण! हमें पुत्र प्राप्ति का वर दें।"

महाविष्णु ने पुनः समझाया कि वे हठ को त्यागकर अन्य वर मागें, परन्तु वे न माने। महाविष्णु ने कहा, "ठीक है तुम्हें आज्ञाकारी, भक्त एवं तपस्वी पुत्र की प्राप्ति होगी। परन्तु जब वह बालक तेरह वर्ष का होगा तो तुम दोनों अन्धे हो जाओगे।"

ऋषि दम्पत्ति ने कहा कि उन्हें स्वीकार हैं। समयानुसार दम्पत्ति पुत्र रत्न से वरद हुए। बालक का नामकरण हुआ "श्रवणकुमार"। बालक अति सुन्दर, मेधावी, भक्त, तपस्वी एवं मननशील था। परन्तु जैसे-जैसे बालक बढ़ता गया ऋषि दम्पत्ति की दृष्टि क्षीण होने लगी। तेरहवें वर्ष के पदार्पण काल में ऋषि दम्पत्ति अन्धे हो गये।

बालक श्रवणकुमार अपने माता-पिता की सेवा अनन्य भाव से करने लगा। दिन रात वह भक्ति पूर्वक उनकी सेवा में तल्लीन रहता। उन्हें किसी प्रकार का भी कष्ट न होने पावे इसी प्रयास में वह सदा रहता। एक दिन बूढ़े ऋषि दम्पत्ति ने तीर्थाटन की अभिलाषा की। बालक श्रवणकुमार ने तत्क्षण उसे कार्य रूप में परिणित किया। एक कांवर में अपने माता-पिता को बिठाकर वह उन्हें तीर्थाटन कराने चल दिया।

नाना तीर्थों का वास कराकर बालक श्रवणकुमार अगले तीर्थ पर ले जा रहा था। घनघोर वन से होकर जा रहे ऋषि दम्पत्ति को भयंकर प्यास लगी। बालक श्रवण कुमार उन्हें वहीं बिठाकर स्वयं ही जल की खोज में चल दिया।

उसी वन में महाराज दशरथ आखेट के लिये विचरण कर रहे थे। वे शब्दभेदी बाण चलाने में दक्ष थे। बालक श्रवणकुमार नदी के किनारे आये। मटकी में जल भरने के लिये उसे नदी में डुबोया। पानी भरने की अवस्था में मटकी के भीतर की वायु जल से प्रताड़ित होकर जब बाहर निकली तो उससे जो नाद हुआ उससे महाराज

दशरथ चौंक पड़े। अन्धेरा था। हरिण पानी पी रहा है; ऐसी कल्पना से प्रेरित होकर उन्होंने शब्द को लक्ष्य मानकर शब्द भेदी बाण चलाया। बाण बालक श्रवण-कुमार के हृदय को विदीर्ण कर गया। ऋषि कुमार घायल होकर गिर पड़ा। उसकी करूण पुकार सुनकर महाराज दशरथ को अपनी गलती का भान हुआ। वे शीघ्रता से श्रवण के पास आये। बाण बालक के मर्मस्थल को बीन्ध गया था। प्राणों की रक्षा होना असम्भव था। महाराज दशरथ प्रायश्चित की ज्वालाओं में तड़प उठे। स्वयं को धिक्कारने लगे, "ओह! यह क्या अनर्थ कर बैठा? श्रवण इन्द्रिय (कान) के सहारे शब्द भेदी बाण चलाकर मैंने कैसा अन्धे का कार्य किया! जो कार्य नेत्रों द्वारा ग्रहण किये जाने के उपरांत सम्पादित होना चाहिए था उसे मैं श्रवण अन्धता से कर बैठा।"

महाराज दशरथ उस बालक से उसका परिचय पूछते हैं। यह जानकर उन्होंने धोखे से ऋषिकुमार श्रवण को आहत कर दिया है, वे महान शोक के सागर में डूब गये। बालक श्रवणकुमार ने अपने अन्धे माता-पिता के विषय में दशरथ जी को बताया और प्रार्थना की कि महाराज दशरथ उसके प्यासे माता-पिता को जल पिला आवें। यह कहते हुए श्रवणकुमार ने असमय मृत्यु का वरण किया।

दशरथ जी जब जल लेकर अन्धे दम्पत्ति के पास गये तो उन्होंने भांप लिया कि यह श्रवणकुमार न होकर कोई अन्य व्यक्ति है। उन्होंने जल ग्रहण करने से मना कर दिया। उसके द्वारा बारम्बार पूछे जाने पर महाराज दशरथ ने सारा वृतान्त कह सुनाया। श्रवण की अकाल मृत्यु का समाचार पाते ही अन्धे दम्पत्ति करूण क्रन्दन करते हुए प्यासे ही प्राण त्यागकर अकाल मृत्यु का वरण कर गये। साथ ही महाराज दशरथ को अभिशप्त कर गये कि दशरथ भी इसी प्रकार पुत्र वियोग में असह्य पीड़ाओं को भोगते हुए असमय मृत्यु को प्राप्त हों। श्रीरामचन्द्र के वन गमन के उपरान्त दशरथ जी ने भी राम के वियोग में भयंकर पीड़ाओं को भोगते हुए असमय (अकाल) मृत्यु का वरण किया।

कान को आँख नहीं होती। फिर भी हमारा समाज कान के सहारे ही देखने का आदी है। कान से सुनी बात अधिक असर कर जाती है और प्रत्यक्ष का वर्षों का व्यवहार धूमिल हो उठता है। यही तो जीवन का अभिशाप है। कान को आंख बनाने

की वृत्तियां धीरे-धीरे, संशय और भ्रम को भी आँख बना बैठती हैं। जिन्दगी मात्र एक दुखद अभिशाप बनकर रह जाती है। श्रवणकुमार की कथा को कभी न भूलाना चाहिए।

मन में संशय उठता है कि ऋषि दम्पत्ति को सन्तान का वर देते समय महाविष्णु ने अन्धा होने का श्राप भी क्यों दिया ? कारण ?

इसलिए कि ऋषि दम्पत्ति अन्धे का सा आचरण कर रहे थे। साक्षात महाविष्णु को सम्मुख पाकर भी पुत्र मोह-रूपी लिप्सा उन्हें अन्धा बनाये रही। महाविष्णु को पाकर भी जिसकी साँसारिक इच्छायें नष्ट न हों ; वे अन्धे ही तो हैं। यदि सनेत्र होते तो महाविष्णु रूपी सागर में सदा-सदा के लिए व्याप्त हो जाते।

यदि वे विवेक से काम लेते तो अपनी अन्धता को स्वयं देख लेते। तपस्वी का सही अर्थों में पुत्र, उसका तप ही तो है। तप रूपी बेटा, जिसे उसने क्षण-क्षण तपस्या द्वारा उत्पन्न किया। उसकी हत्या करके उसके बदले में चाहा एक भौतिक बेटा तो महाविष्णु का ही हुआ ! तप रूपी बेटा जो उन्हें लोक लोकान्तरों का विचरण कराता ; उन्हें मोक्ष आदि परम पद की प्राप्ति कराता, ऐसे पुत्र को त्यागकर केवल अज्ञान जगत की वासनात्मक इच्छा को पूर्ति की चाहना स्वयं में पूर्ण अन्धता ही तो है। काश ! हम भी ऐसी अन्धताओं से उपराम होकर नारायण को नारायण ही भजते ! यही इस कथा का रहस्य है। स्पष्ट है महाविष्णु ने ऋषि दम्पत्ति को श्राप नहीं दिया वरन् सत्य का दर्शन कराया जिसे मोहान्धता के कारण वे देख न पाये।

पुनः संशय उठता है कि ऋषि दम्पत्ति ने दशरथ की अबोधता पर दया न करके उसे श्राप क्यों दिया? यह जानते हुए भी कि जो कुछ हुआ है। भ्रमवश हुआ है। फिर भो अभिशप्त किया ? क्यों ? इसका उत्तर क्रौंच-वध देगा।

श्रीराम कथा प्रवेश

"मा निषाद प्रतिष्ठात्वम् गमः शाश्वतीः समा।
यत् क्रौंच्च मिथुनादेकमबधीः काम मोहितम् ॥"

निषाद ! तुझे नित्य निरन्तर—कभी भी शान्ति न मिले, क्योंकि तूने इस क्रौच्च के जोड़े में से एक को, जो काम से मोहित हो रहा था, बिना किसी अपराध के ही हत्या कर डाली।

महर्षि बाल्मीकि के अश्रु पूर्ण नेत्रों, व्यथित हृदय, ने वाणी को आवेश दिया। निषाद सदा—सदा के लिए अभिशप्त हो गया।

ऋषि का श्राप एक व्यक्ति के लिए नहीं था, वरन् निरपराध जीवों की हत्या करने वाली वृत्ति के प्रति था। सचराचर में, सभी कालों (समय) में, जिस क्षण जो भी निषाद वृत्ति को प्राप्त होगा; बिना अपराध के निरीह पशु पक्षियों को; असहाय दोनों को सतायेगा, उन्हें मारेगा, वह उपरोक्त श्राप से स्वत: अभिशप्त होगा ! चाहे वे महाराज दशरथ हों अथवा प्रतापी महाराज प्रतापभानु,। ऋषि की वाणी किसी भी काल में मिथ्या न होगी। श्रीराम कथा का ही नहीं, वरन् काव्य का प्रथम श्लोक जो महर्षि बाल्मीकि के श्री मुख से प्रकट हुआ, उपरोक्त श्राप ही था !

कथा इस प्रकार है। परम तपस्वी महर्षि बाल्मीकि अपने शिष्यों के साथ स्नान हेतु नदी के तट पर आये। सुरम्य वन का पावन वातावरण था। पशु—पक्षी आनन्द किल्लोल में मग्न थे। महर्षि बाल्मीकि अपने शिष्य समूह के मध्य विराज रहे थे। तभी एक निषाद (बहेलिया) ने बाण द्वारा क्रौच्च दम्पत्ति में से एक को घायल कर दिया। घायल क्रौच्च, करूण क्रन्दन करता हुआ महर्षि बाल्मीकि की गोद में गिर पड़ा। उसकी असह्य पीड़ा, करूण क्रन्दन, शरीर से बहती रूधिर की धारायें, पेड़ पर चीखती तड़पती उसकी प्रेयसी ! सब कुछ इतना शीघ्र हुआ कि महर्षि बाल्मीकि के शान्त स्थिर नेत्र पीड़ा से व्याकुल होकर बरस पड़े।

हृदय वेदना से भर उठा। अनायास उनके श्री मुख से उपरोक्त श्लोक फूट पड़ा। निषाद सदा–सदा के लिए अभिशप्त हो गया।

महर्षि बालमीकि को जब इसका बोध हुआ कि उन्होंने निषाद को अभिशप्त कर दिया है तो वे पश्चाताप करने लगे। महर्षि दुखी हो उठे, "अहो मैंने आवेश में आकर निषाद को श्राप दे डाला। मुझे आवेश को तो कदापि नहीं करना चाहिए था।

महर्षि व्यथित हो गये। किसी को भी श्राप देना उनका धर्म नहीं था। उन्हें तो शान्त, स्थिति-प्रज्ञ तथा सचराचर में एक ब्रह्म का ही दर्शन करना उचित था। जो जैसा करेगा, वैसा फल पावेगा। परन्तु उसमें महर्षि के श्राप देने का औचित्य तो सिद्ध नहीं होता। महर्षि मन ही मन इन्हीं पश्चाताप के विचारों में खोये हुये थे, तभी ब्रह्मा जो प्रकट हो गये। महर्षि बालमीकि ने उठकर भगवान श्री ब्रह्माजी को प्रणाम किया। स्तुति, पूजा, अर्चना, के उपरान्त अपने मन की व्यथा कह सुनाई। श्री भगवान ने महर्षि को सान्त्वना देते हुए कहा, "महर्षि ! व्यर्थ में दुखी मत हो। तुम्हारे श्री मुख से श्राप के रूप में सत्य ही प्रकट हुआ है। तुम्हारा कथन कभी भी मिथ्या नहीं होगा। तुम्हारे अन्तर्मन में श्रीराम कथा का महाकाव्य लहरा रहा है। उपरोक्त श्लोक उसी महाकाव्य रूपी सागर का छलक आया जल है। महाकाव्य की पावन राम कथा रूपी गंगा को प्रकट करो।" श्री भगवान ऐसा कहकर अर्न्तध्यान हो गये। महर्षि बाल्मीकि आश्वस्त हुये। उन्होंने भगवान श्रीरामचन्द्र की पावन कथा को महाकाव्य के रूप में प्रकट किया। संक्षेप में यह कथा स्वयं नारद जी ने महर्षि को सुनाई थी उसी संक्षिप्त कथा को महर्षि ने महाकाव्य का रूप दिया।

निषाद अभिशप्त है। महाराज दशराज का शब्द–भेदी बाण चलाना, निषाद वृत्ति ही तो थी। जिस पशु के विषय में तुम जानते नहीं, कि हिंसक अपराधी है अथवा निरपराध निरीह; उसे शब्द मात्र से मारना निषाद धर्म ही तो है।

यहाँ पर विशेष रूप से विचारणीय है कि पूर्वकाल में महामुनि कश्यप एवं आदिती ने घनघोर तप द्वारा महाविष्णु को प्रसन्न किया। जब नारायण ने वर माँगने का आग्रह किया तो दम्पत्ति ने नारायण को ही पुत्र रूप में देखने की इच्छा की।

वर की। पुर्णता हेतु ही कश्यप और आदिति अगले जन्म में दशरथ और कौशल्या बने। महाविष्णु उनके दाम्पत्य को वरद करने हेतु भगवान श्रीरामचन्द्र के रूप में प्रकट हुए। ईश्वरीय न्याय की महानता, स्पष्ट एवं निष्पक्ष निर्णय; चाहे ईश्वर हों, देवता हों अथवा मनुज हो, समान ही रहेगा। कश्यप जो दशरथ के रूप मे प्रकट हुए हैं, महर्षि के श्राप से मुक्त नहीं हो सकते। वे भी राम के विरह में तड़प–तड़प कर देह त्यागते हैं।

जो भी निरीह जीवों की व्यर्थ में हत्या करेगा, चाहे वह ईश्वर हो अथवा देवता, उसे अभिशप्त होकर भीषण यातनाओं को भोगते हुए मृत्यु का वरण करना होगा। दया, सद्भाव, एवं सामान्य न्याय की दृष्टि से श्रीराम कथा उपमातीत है। इसी कथानक को महायशस्वी महाराजा प्रतापभानु की कथा द्वारा पुनः स्पष्ट दर्शाया गया है।

पूर्वकाल में महायशस्वी धीर, वीर, प्रतापी, दिग्विजयी, महाराज प्रताप भानु हुये ! असंख्यों यज्ञों को करने वाले, मुक्त हस्त से निरन्तर दान करने वाले, सम्राट प्रतापभानु ने सब राजाओं को जीत कर अपने आधीन कर लिया। उनके शौर्य, दान, रूप और दया की कीर्ति चारों दिशाओं में फैलती थी। लोकगीतों में हर ओर प्रजाजन, भांट, उनका यश गाते थे।

महाराज प्रतापभानु एक बार आखेट हेतु विन्ध्याचल पर्वत की ओर गये राजाओं द्वारा आखेट की जो उस युग में परम्परा थी वह हिंसक पशुओं की संख्या कम करने के उद्देश्य मात्र से थी, जिससे अन्य निरीह वन–पशु भी सुख पूर्वक जी सकें। परन्तु कालान्तर में महाराजा भी निरीह पशुओं का वध करने लगे। प्रताप भानु भी हरिण आदि जो भी निरीह अथवा हिंसक पशु मिले, मारते चले गये जिससे उनका श्रेष्ठ तप क्षीण होता चला गया। वन में उनकी दृष्टि जंगली शूक पर पड़ी, जिसके दाँत अर्ध–चन्द्राकार चन्द्रमा की भाँति सुशोभित हो रहे थे। लोभव महाराज प्रतापभानु ने उस शूकर के पीछे घोड़ा दौड़ा दिया। भयभीत शूकर भा खड़ा हुआ। प्रतापभानु उसका निरन्तर पीछा करते रहे परन्तु शूकर उन्हें नहीं मिला महाराजा वन में रास्ता भूल गये। रात घिर आयी। आश्रम की खोज में भट महाराज प्रतापभानु एक कपटी साधु की कुटिया में जा पहुंचे।

यह कपटी साधु वस्तुतः एक राजा था जो प्रतापभानु से पराजित होकर, राज्य श्री से हीन साधु-वेश में छिपा हुआ था। बदले की भावना से उसका मन दहक रहा था। निषाद-वृत्ति से अभिशप्त होकर, तप हीन प्रतापभानु को उसका विनाश उसके ही परमशत्रु, कपटी साधु के पास खींच लाया। उस कपटी साधु ने राजा को सम्मोहित एवं भ्रमित करके अपने भ्रमजाल में फाँस लिया। भ्रमित राजा कपटी साधु के जाल में फंस गया और उसी साधु के आदेश पर उसने अपने राज्य में लौटकर व्यापक ब्रह्म-भोज की घोषणा कर दी। रसोई का सारा भार कपटी साधु को सौंप दिया गया। जब ब्राह्मण भोज हेतु बैठे तो, आकाशवाणी हुई कि इस भोजन में नाना पशुओं एवं मनुष्यों का मांस मिलाकर ब्राह्मणों को खिलाया जा रहा है, तो उन्होंने सामूहिक रूप से महाराज प्रतापभानु को श्राप दिया, जिससे उसका सब कुछ नष्ट हो गया तथा वह पतित योनि को प्राप्त हुआ।

ब्राह्मणों का श्राप राजा प्रतापभानु को, अथवा श्रवण-कुमार के माता-पिता का श्राप महाराज दशरथ को, मात्र एक सत्य घटना की अभिव्यक्ति है। घटनाक्रम में वे महर्षि बाल्मीकि के वाक्यों को ही दुहरा रहे हैं।

अपने लाड़ले को बकरा और मुर्गा मार कर खिलाने वाली मां; कैसे प्रभु से अपने लाड़ले के सुख और मंगल की कामना करती है? वे भी तो किसी मां के लाड़ले थे!

"मा निषाद प्रतिष्ठात्वम्ः गमः शाश्वतीः समाः......"

शिव और सती

"दक्ष" का अर्थ है चतुर, सयाना, ; प्रजापति है "मन" हमारा। दक्षप्रजापति हुआ चतुरमन! इस "मन" को जिसे संस्कृत में "इन्द्र" कहते हैं ; इसकी दस इन्द्रियां हैं। इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा अर्जित ज्ञान ही बुद्धि है। दक्ष-प्रजापति की बेटी "दक्षता", दक्षसुता अर्थात् "उमा" अर्थात् "चतुरबुद्धि"।

घट-घटवासी, अजर-अमर अविनाशी, शिव है—आत्मा। सो ही परम् होकर परम+आत्मा कहलाये परमात्मा! वे अविनाशी शिव ही कथा सुना रहे हैं भगवान

श्रीरामचन्द्र की ! शिव अर्थात् आत्मा संशय रहित हैं। उन्हें संशय भी कैसा ? आत्मा नित्य है। दृष्टा है ! भला आत्मा को संशय कैसा ?

श्रुति में कहा भी है :-

"मन संशय रहित हुआ किसका ?
आत्मा को संशय हुआ कब ?"

बुद्धि के संशयों का निवारण चाहने वालों; बुद्धि को मन से हटाकर आत्मसंगी बना लो ! संशय रहेगा न बाकी।

भगवान शंकर आत्म-विभोर होकर सुनाते हैं कथा अपने प्राणों से प्रिय भगवान श्री रामचन्द्र की ! दक्ष प्रजापति (मन की पुत्री 'उमा') (जीव, प्रकृति, बुद्धि) ध्यानस्थ होकर कथा तो सुनती हैं, परन्तु अपने पिता प्रदत्त गुणों के कारण संशय को प्राप्त होती है। श्री राम लीला की यह कथा विलक्षण है।

लीला ग्रन्थों एवं लीलाओं का प्रचलन सनातन धर्म में आदि काल से चला आ रहा है। सनातन धर्म एवं संस्कृति किसी भी काल में इससे अछूती नहीं रही है। इनका धर्म, समाज एवं संस्कृति में विशिष्ट स्थान रहा है।

जिन्हें हम रास–लीला कहते हैं, इनका सही नाम था "रहस्य–लीला" जो कालान्तर में रहस्य से अपभ्रंश होकर "रहास" तथा वर्तमान में रास-लीला बन गया। 'रास–लीला' नाम श्रीकृष्ण की लीलाओं तक सीमित रह गया। जबकि 'रहस्य–लीला' में व्यापक रूप से श्रीरामलीला, श्रीकृष्ण–लीला तथा नाना पुराण लीलाओं का प्रचलन था। प्रहलाद की कथा हो अथवा हरिश्चन्द्र की, क्षीरसागर मन्थन की कथा हो, अथवा गज और ग्राह की, सब 'रहस्य–लीलाओं' के रूप में प्रदर्शित एवं जानी जाती थीं।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पहलुओं को नाना नाटकीय प्रसंगों द्वारा प्रदर्शित करके, उसके जीवन को सजाना, सवांरना, तथा उद्देश्य पूर्ण एवं सुखद वरद बनाना ही लीलाओं का मुख्य उद्देश्य था। गौण रूप से इतिहास को विस्मृत होने से बचाना भी इन लीलाओं का उद्देश्य रहा है।

अतीत के लोक बहुचर्चित घटनाक्रम को उदाहरणार्थ ग्रहण करते हुए, प्रत्येक व्यक्ति को उसके जीवन के असंख्य पहलुओं, वादों, विवादों, उद्देश्यों, भटकावों तथा

जीवन के तिराहों चौराहों को सरस नाटकीयता द्वारा प्रदर्शित करना ही लीलाओं का मुख्य ध्येय रहा है। **सनातन स्वामी** आपके सामने प्रस्तुत कर रहा है। नारायण हरि!

भोले शंकर, भगवान श्री रामचन्द्र जी को बारम्बार प्रमाण करते हैं। उमा जी को यह सब विचित्र लगता है। जो अपनी पत्नी के वियोग में वन-वन भटक रहे हैं, भला वे सचराचर के स्वामी कैसे हो सकते हैं ? दक्षपुत्री के मन में वनवासी राम की परीक्षा लेने का विचार उठता है। अविनाशी भगवान शिव उमा से ऐसा न करने को कहते हैं। परन्तु संशयात्मक बुद्धि समय और उचित सलाह की परवाह नहीं करती। उमा जी के हठ के कारण शिव उन्हें श्रीरामचन्द्र की परीक्षा की अनुमति प्रदान करते हैं।

जनकसुता जानकी जी को, धोखे से अपहरण करके, रावण लंका ले गया है। दुखित अशान्त श्री रामचन्द्र एवं श्रीलक्ष्मण जी वन में उन्हें खोजते हुए भटक रहे हैं। तभी दक्षसुता उमा जी जानकी का ही रूप धारण कर दूर से आती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। यदि श्रीराम अर्न्तयामी होंगे तो भ्रम में नहीं फसेंगे, इसी विचार से उन्होंने ऐसा रूप धारण किया है !'

श्रीराम चन्द्र जी ने उन्हें देखा तो मुस्करा कर उनका अभिवादन किया, तथा पूछा कि 'उमा जी आज अकेली क्यों हैं ? भगवान शंकर कहां हैं ?

उमा जी अति लज्जित होकर शिव के पास लौट आती हैं। मन ही मन भयभीत भी हैं कहीं शिव ने जान लिया तो क्या होगा ? अन्तर्यामी शिव से उमा जी का नाटक छिपता कैसे ? उन्होंने उमा जी का मन से परित्याग कर दिया तथा घनघोर तपस्याओं में लीन हो गये। उपेक्षित उमा, शोक सन्तप्त, मन ही मन दुखी रहती अपने किये कार्य का पश्चाताप करने लगीं !

इसी समय दक्षप्रजापति ने भव्य यज्ञ रचाया। दक्षप्रजापति अपने जामाता भगवान शिव से कुपित थे, इसलिए उन्हें यज्ञ का निमन्त्रण ही नहीं दिया तथा यज्ञ में भी उनका अंशदान न करके उन्हें उपेक्षित किया। परन्तु उमा जी ने अपने पिता के यहां जाकर यज्ञ में सम्मिलित होने का हठ ठान लिया। शिव के बहुत समझाने पर भी नहीं मानी। शिव से हठ पूर्वक आज्ञा लेकर पिता के घर चल दी !

पिता के यहाँ उमा अपमानित एवं उपेक्षित हुई। अपने पति शिव का अपमान उन्हें सहन "न" हुआ। दक्षसुता ने अपने पिता के यहां आत्म-दाह कर लिया।

यज्ञ में हाहाकार मच गया। शिवगणों ने यज्ञ विध्वंस कर डाला। यह कहानी हमारी है। जन-जन की है!

दक्षप्रजापति (चतुरमन) की पुत्री दक्षसुता (जीवन की बुद्धि जो मन से उत्पन्न है) एक बार घनघोर तपस्या द्वारा शिव (आत्मा) का वरण करती है। प्रकृति, पुरुष की गोद में, सम्मानित स्थान एवं सुखद सामीप्य को प्राप्त होती है। जन-जन की कहानी है। युग-युग की कथा है।

परन्तु पिता द्वारा प्रदत्त चतुराई और चपलता के कारण, शिव अर्थात् आत्मा से व्यक्त हो पितृयान (चिता की लकड़ियों) में आत्म दाह करती है। जीवन के अमूल्य क्षणों का स्वर्ण लुट गया राह में ! स्वर्णिम काया चिता की लकड़ियों पर राख हुई ! अरे ! दक्षप्रजापति की पुत्री फिर पिता के यहां जल राख हुई।

सशयों में जीवन बीता ! संशय मिटते तो निश्चयात्मक गमन होता हमारा ! राह मिलती ! संगी-साथी मिलते ! मंजिल मिलती ! अनन्त में मिलन होता हमारा।

संशयात्मक बुद्धि रेलवे के शंटिंग करते इंजन के समान थोड़ी दूर तक आगे पीछे उन्हीं पटरियों पर भागती रहती है। उसका कोई भी गंतव्य-मंतव्य नहीं होता।

छिद्रान्वेषण में जीवन नष्ट हो गया। निज को देखने का समय ही नहीं मिला। हम तो दुनियाँ की गल्तियाँ ढूढ़ने में लगे थे। जग को सुधारने में सारा समय चला गया। निज को सुधारने की बारी ही न आई। दूसरों की परीक्षा में ही अभिशप्त हो गये जीवन के सारे क्षण ! तभी पितृयान पर लेटने की बारी आयी। अभिशप्त जिन्दगी हुई। उमा व्यक्त, शिव से हुई। प्रजापति के यहाँ पितृयान पर सवारी चली ! कहने का विवाहिता; अन्यथा कोरे कागज सी कुवांरी चली ! वही राह ! वही गली ! ! फिर-फिर चली ! फिर-फिर चली ! !

भक्त महान ! शिव की कथा श्रीं रामकथा में स्वयंतक मणि के समान है। इसे कभी नहीं भूलना चाहिए। इस अमृतमय कथा के नाना पहलू हैं।

शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदायों में सनातन संस्कृति विभाजित होकर वैमनस्य संकीर्णता एवं हिंसा को प्राप्त हो चुकी थी। साम्प्रदायिक संकीर्णता ने सामूहिक विनाश, हिंसा और प्रतिहिंस से सम्पूर्ण सनातन संस्कृति को दहला रखा था।

श्रीराम कथा ने अलौकिक चुम्बक का काम किया और विनष्ट होती संस्कृति में पुन: एकत्व, समादर, स्नेह, श्रद्धा, सहयोग सामूहिक पूजा, तथा मानवीय मूल्यों को पुन: प्राण पल्लवित किया ।

शैव सम्प्रदाय के परमेश्वर भगवान शिव कथा सुना रहे हैं, वैष्णव सम्प्रदाय के परमेश्वर भगवान श्रीरामचन्द्र की । वैष्णव सम्प्रदाय के प्रभु श्रीरामचन्द्र, रावण को जीतने के लिए, शाक्त आराध्या नव दुर्गा की पूजा करते हैं । इस प्रकार शैव, शाक्त, और वैष्णव, श्रीराम कथा के पावन तीर्थ का प्रयाग राज हैं । उन महान पुज्य पूर्वजों एवं देव तुल्य ऋषियों की चरण धूल को माथे धरो, जिन्होंने सुन्दर, मनोरम लीला ग्रन्थों के माध्यम से सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति को साम्प्रदायिक संकीर्णता के महाविनाश से बचा लिया ।

हां ! सम्प्रदायों को अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक वर्गीकरण करके राष्ट्र में साम्प्रदायिक सद्भाव उत्पन्न करने की विलक्षण बुद्धि, चातुर्य उनमें नहीं था !

कल्पना करें आपके चार बेटे हैं । यदि आप उन्हें अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक वर्गों में बाँटेंगे, तो क्या वह घर कभी संगठित हो पावेगा ? क्या भारत एक राष्ट्र के रूप में लम्बे समय तक संगठित रह सकता है ? श्रीराम कथा साम्प्रदायिक एकत्व एवं सद्भाव का अद्भुत राष्ट्रीय ग्रन्थ है ।

आयें अब संशय रहित होकर अपने ही भीतर सत्य को खोजने के लिए मूल कथा में प्रवेश करें ।

नारायण हरि !

★

कथावतरण

"देवि ! तुम व्यथित न हो । असुरों के पाप के भार से तुम आतंकित न हो ! असुर राज रावण के वध के लिए मैं स्वयं नर रूप में अवतरित हो रहा हूँ । असुरराज रावण को शिव से वर प्राप्त है । उसे देवता, दैत्य, असुर,यक्ष, किन्नर, गंधर्व, आदि मान न सकेंगे । परन्तु मनुष्यों को तुच्छ जानकर उसने मनुष्यों से अभय नहीं चाहा है । इसलिए मैं शीघ्र ही मनुष्य रूप में अवतरित, होकर उसका विनाश करूँगा । महातपस्वी, देव-कुल प्रताप, ऋषि कश्यप एवं आदिति, दशरथ और कौशल्या के रूप में जन्म लेकर, दाम्पत्य–सूत्र में बंध चुके हैं । उनके दाम्पत्य को चौथेपन में वरद करने हेतु मैं अपनी विभूतियों के साथ प्रकट हो रहा हूँ ।"

गो का रूप धारण कर, क्षीर सागर में विनीत खड़ी धरती माता को सम्बोधित करते हुए शेषशयी श्री नारायण ने सांत्वना प्रदान की। सभी देवताओं के साथ पृथ्वी माता ने महाविष्णु को प्रणाम किया!

श्रीराम कथा अनन्त काल से चली आ रही विश्व की सबसे प्राचीन लीलाओं में से एक है। सभी कथाकारों ने लगभग एक मत से स्वीकार किया है कि श्री रामचन्द्र स्वयं महाविष्णु का अवतार हैं। एक ओर वे उन्हें परमेश्वर का अवतार मानते हैं, दूसरी ओर उन्हें सहज मनुष्य रूप में दर्शाते हैं। वे नर भी हैं और नारायण भी। आधुनिक इतिहास कारों में भी श्रीराम कथा को लेकर मतभेद हैं। कुछ इतिहासकार इस कथा को कपोल कल्पित मानते हैं। तो कुछ इसे मात्र ऐतिहासिक घटना, जिसे कवियों ने कालान्तर में अतिश्योक्तियाँ जोड़-जोड़ कर विलक्षण बना दिया है। यह सन्यासी, आपसे थोड़ा समय लेकर इस भ्रमात्मकता को निर्मूल करके ही आगे की कथा सुनाना चाहेगा।

श्रीराम कथा में कथाकार और इतिहासकार दोनों ही भ्रमित हैं। कारण? श्रीराम कथा न तो कोरा इतिहास ही है और न कपोल कल्पना। श्रीराम कथा के ऐतिहासिक काल को लेकर भी मतभेद हैं। कोई इसे तीन हजार वर्ष पूर्व बता रहा है तो कोई पांच हजार वर्ष पूर्व! यह सब भी सत्य नहीं हैं। श्रीराम कथा का ऐतिहासिक काल त्रेता युग ही है। परन्तु श्रीराम कथा का लीला काल नित्य है! हर क्षण है! प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का प्रत्येक क्षण है।

कलियुग के पांच हजार कुछ सौ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इससे पूर्व द्वापर युग के आठ लाख चौंसठ हजार वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। उससे पूर्व का काल त्रेतायुग है, जो कि श्रीराम कथा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। यह सप्रमाण एवं अकाट्य है। इससे स्पष्ट है कि, लगभग नौ से दस लाख वर्ष पूर्व के घटनाक्रम को स्पष्ट रूप से जान पाना, इतिहासकारों के लिए लगभग असम्भव सा है। न तो उस काल के भोजपत्र ही मिल सकते हैं और न ही शिलालेख! दस लाख वर्ष पूर्व के नगर, भवन अथवा उनके अवशेषों का मिलना भी लगभग असम्भव प्राय ही है। इसलिए विशुद्ध ऐतिहासिक घटनाक्रम को जान पाना सम्भव नहीं लगता। परन्तु यह महान ऐतिहासिक घटना लाखों वर्ष तक विश्व के कोने-कोने में मनुष्य मात्र पर छाई रही है; इसके प्रमाण विश्व के कोने-कोने में आज भी मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि ऐतिहासिक घटनाक्रम विशिष्ट व्यापक, एवं विश्वचर्चित रहा है। इसे कदापि ठुकराया नहीं जा सकता है।

'रहस्य-लीला' शब्द को यह सन्यासी इससे पूर्व भी स्पष्ट कर चुका है। किसी ऐतिहासिक (विलक्षण एवं बहुचर्चित) घटनाक्रम को तथा इतिहास पुरूष को उदाहरणार्थ ग्रहण करके, प्रत्येक व्यक्ति को उसके जीवन के विभिन्न वादों, संघर्षों, उद्देश्यों और क्षणों को सरल एवं सरस ढंग से स्पष्ट करना ! यही रहस्य लीलाओं का मुल उद्देश्य रहा है। इतिहास पुरूष यहाँ उदाहरणार्थ ग्रहण किया गया! लीला में इतिहास पुरूष घट-घट वासी आत्मा अर्थात् ईश्वर को ही प्रतिबिम्बित एवं प्रतिध्वनित कर रहा है। इसलिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में वह नर है, परन्तु लीला-स्थली में नारायण! श्रीरामचन्द्र नर भी हैं, नारायण भी। वे सहज मनुष्य भी हैं और परमेश्वर भी।

रहस्य-लीलाओं में इतिहास-पुरूष तथा घटनाक्रम को कम से कम तोड़ना मरोड़ना पड़े, इसलिए लीलाओं को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही स्पष्ट करने का चलन था। लीला हेतु इतिहास को बदलने में कथाकरों की आस्था कदापि न थी। जहां तक हो सके ऐतिहासिक घटनाक्रम को लीलार्थ न ही बदला जाय। यही सर्वमान्य सिद्धान्त रहा है।

परन्तु लाखों वर्षों के लम्बे अन्तरालों को लांघते लीला ग्रन्थ, न जाने कितनी बार लुप्त हुए ! किम्वदन्तियों और दन्त कथाओं के सहारे, काल की सीमाओं को तोड़ते, बढते रहे। इसलिए यदि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को छोड़ भी बैठे हों, तो क्या आश्चर्य है ? जिस युग, काल और सामाजिक व्यवस्थाओं से यह लीला ग्रन्थ गुजरे हों, उस समय की व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवस्थाओं में व्याप्त विसंगतियों एवं समस्याओं के स्पष्टीकरण और समाधान को भी अपने में लपेट बैठे हों तो क्या आश्चर्य ? सम्भव है श्रीरामचन्द्र के समय में वे सामाजिक समस्याएं 'न' ही रही हों परन्तु जिस काल में कवि इस कथा को पुनः सुना रहा हो, उस काल की समस्याओं को कथा में समाधार सहित लपेट बैठे हों ? इसलिये अति प्राचीन लीला ग्रन्थों में संकीर्ण दृष्टिकोण स्वान्धता का ही मूलक होगा। इन महान कृतियों में व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण से ही कुछ पाया जा सकता है !

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारत गुलाम हुआ। आपने बंगलादेश के अभ्युदत्य काल में बुद्धिवादियों का निरीह नर-संहार, जो देखा-सुना, वह उस युग के नृशंस नर संहार का शतांश भी नहीं हो सकता। विश्वविद्यालय जलाये गये। विद्वत

समाज, तपस्वी, मनीषी, लाशों के ढेरों में बदल गये। अज्ञान और अन्धकार इस महान संस्कृति को स्वयं में निगलता चला गया। मौत की आंधियाँ! धू-धू कर जलते तक्षशिला, नालन्दा और न जाने कितने विश्वविद्यालय! सब में एक ब्रह्म 'देखने वाले तपस्वियों के सिर' विहीन शवों को रौंदते अश्वारोहियों के दल, भालों पर सन्यासियों के सिर लिये चिल्लाते, 'कहां है ईश्वर घट-घटवासी! यदि घट-घटवासी होता, तो निकल कर हमसे लड़ता नहीं?........"

जलते शरीर-जलते मकान, गली, नगर और बस्तियाँ! धधकते मन, घुटती सांसे और मौन होती धड़कने! इतिहास साक्षी है! अंगार बुझे, राख का अम्बार संस्कृति हुई! उस राख को हजारों बार प्रति वर्ष बरसातें बहाती रहीं! लू और आंधियां उड़ाती रही! फिर संशयों के अतिरिक्त और बचता भी क्या? चन्द अफवाहें! चन्द भ्रांतियां!! कुछ नये मोड़, पुराने के नाम पर! नष्ट प्राय गुलाम संस्कृति का जीर्णोद्वार कर रहे थे नये आका! साथ में बंधी कलमों और बंधे दिमाग से जुड़े थे कुछ गुलाम बन्धक बुद्धिवादी! अतीत के नाम पर कुछ नितान्त नयावाद खोज रहे थे! रस्मों को निभाते हुए!

समय अधिक न लूंगा! लौटकर कथा में चल रहे हैं! जिनके हाथों में आप थे; उनके धर्म में, धर्म के नाम पर कौरा इतिहास और ऐतिहासिक व्यक्तियों की चर्चा मात्र थी। इतिहास और उनके धर्म ग्रंथ थे। रहस्य-लीलाएं कल्पनातीत थीं। समय के अन्तराल भी इतने लम्बे थे कि वंशानुगत मान्यताओं का बिखर जाना स्वाभाविक था। विस्थापित जब देश था, देश का प्रत्येक व्यक्ति था! धारणाओं और मान्यताओं के बिखरने में फिर संदेह कैसा?

सनातन.....धर्म ने इतिहास अथवा व्यक्ति को सामने रखकर धर्म की कल्पना नहीं की!

"पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यंते!"

श्रुति ने कहा--परमेश्वर का लिखा ग्रन्थ यह प्रकृति है, जो न कभी मरती है और न कभी जीर्ण होती है। प्रकृति ही परमेश्वर का ग्रन्थ है, जिसका प्रत्येक जीव-धारी अक्षर है। श्रीराम कथा के नायक श्रीराम एक व्यक्ति मात्र ही नहीं वरन् घट-घट वासी आत्मा का प्रतीक हैं। प्रकृति और पुरूष की समन्वित लीला ही श्री राम लीला है

नारायण हरि!

अयोध्या अति सुन्दर नगरी है ! महाराज दशरथ राजा है, जिनकी तीन पत्नियां हैं, कौशल्या, सुमित्रा एवं कैकेई ! महाराज दशरथ को कौशल्या से सन्तान सुख की प्राप्ति न हुई तो महारानी की ही जिद पर, उनका पुनर्विवाह सुमित्रा से हुआ। सुमित्रा से महाराज निःसन्तान रहे तो विवश होकर तीसरा विवाह करना पड़ा कैकेई से। इस पर भी अभीष्ट की प्राप्ति न हुई। चौथापन आ गया।

अब चौथेपन में भला सन्तान का क्या मोह ! महाराज दशरथ अपने परम पूज्य गुरू वशिष्ठ से मिलने गए। अयोध्या के भावी शासक की खोज तथा स्वयं वानप्रस्थी होने की इच्छा की। परम-तपस्वी, अन्तर्यामी, ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी ने राजा को ऐसा नहीं करने की सलाह दी, यथा पुत्रेष्टि यज्ञ करने का आदेश दिया।

श्रृंगी ऋषि बुलाये गये ! पुत्रेष्टि यज्ञ विधिवत सम्पादित हुआ। यज्ञ से ज्योतिर्मय अग्नि पुरूष प्रकट हुआ, उसके हाथ में एक सुन्दर कलश था ! उसने कलश महाराज दशरथ को अर्पित करते हुए कहा, कि इस कलश में रखे पदार्थ को रानियां खांय और पुत्रवती हों ! कलश देकर अग्नि पुरूष पुनः यज्ञ की ज्वालाओं में लोप हो गया। महाराज दशरथ असीम आनन्द को प्राप्त हुए।

रानियों ने प्रेम-पूर्वक खीर का सेवन किया। वे गर्भवती हुई। अयोध्या में आनन्द की लहर दौड़ आयी। उचित समय पर कौशल्या से श्रीराम, सुमित्रा से लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न तथा कैकेई से भरत ने जन्म लिया ! अयोध्या में आनन्द की लहर दौड़ गयी। दुलहिन सी नगरी सज उठी ! नगर वासी आनन्द–मग्न खुशियां मनाने लगे। दशरथ को बधाइयां मिल रही हैं। महाराज दशरथ मुक्त हस्त से दान कर रहे हैं।

चहुँ ओर आनन्द वर्षा हो रही है।

नारायण हरि !

चौथेपन के वर !

हम एक सुन्दर, कलात्मक सजे हुए, नाना प्रकाश-पुन्जों से आलोकित रहस्य-लीला मंच का अवलोकन कर रहे हैं। त्रेतायुगीन ऐतिहासिक घटनाक्रम की पृष्ठभूमि में निज-स्वरूप को पढ़ पाने का प्रयत्न कर रहे हैं। जीवन के नाना दृष्टिकोण, व्यक्तित्व एवं सामाजिक ; अर्थ-धर्म काम मोक्ष ; नाना उत्तरदायित्व ; विभिन्न व्यवस्थाएँ, मान्यताओं, दृष्टिकोण और उनके अन्तंवाध्य विरोध इस विलक्षण लीला मंच पर रहस्य-लीलाओं द्वारा नाटकीय ढंग से स्पष्ट होंगे। भाग्यवान हैं वे ; जो एकाग्र ध्यानस्थ होकर नाटक का सतर्क एवं सावधान अवलोकन करेंगे।

अयोध्या दुलहिन सी सजी है। नगरवासी पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, अस्सीम सुखद एवं वरद आनन्द में झूम रहे हैं ! आनन्द ही आनन्द है।

महाराज दशरथ को चौथेपन में पुत्र रत्नों की प्राप्ति हुई। ये चौथापन क्या है ? कृष्ण लीला में नन्द बाबा को भी श्रीकृष्ण की प्राप्ति चौथेपन में ही होती है। इस चौथेपन का रहस्य क्या है ?

मेरी साधना का चौथापन ही तो कहीं महाराज दशरथ का चौथापन नहीं है ? साधना का पहलापन ईश्वर के प्रति भावनाओं को उत्पन्न करना है। यही तो भक्ति का आरम्भ है। भक्त भगवान की ओर झुकता है। हरिनाम स्मरण उसके जीवन की राह बनती है। अराध्य की मूर्ति के सम्मुख वह झुकता चला जाता है। मूर्ति में अराध्य का दर्शन पाता है। यह भक्ति रूपी मार्ग का अथवा भक्त के जीवन का बाल्यपन है। अभी भक्ति और संसार दोनों अलग-अलग खड़े हैं। इस भक्ति को बाल्य-सुलभ भक्ति कहते हैं। मन अराध्य में भी रीझता है तो संसार भी वासनाओं द्वारा उसे रीझता है।

तीसरी अवस्था में वह मूर्ति के साथ–साथ सचराचर में भी अपने अराध्य को भजने लगता है। यह संसार मेरे प्रभु का बनाया हुआ है। सबमें ईश्वर ही आत्मा होकर वास करता है। मुझे सबमें ईश्वर को देखकर उनसे प्रेम करना चाहिए। यह भक्त की युवावस्था है। इसमें भक्त संकीर्ण वासनाओं से ऊपर उठता, प्रेम की राह लेता है। उसके जीवन में वासनायें समाप्त होने लगती हैं, तथा सचराचर के प्रति प्रेम का भाव जगने लगता है। यूँ वह जीवन के तीसरे पन को प्राप्त हो जाता है।

तीसरे पन में भक्त, प्राणी मात्र में अराध्य को देखता हुआ ; वे सब नारायण का रूप हैं। ऐसा जानकर, सचराचर से एक विनम्र सेवक सा व्यवहार करने लगता है। सबमें अपने अराध्य को ही देखता, सचराचर को समर्पित हो जाता है। जगती आत्ममय है। मुझे आत्मवत होकर, आत्म यज्ञार्थ, आत्म सेवार्थ जीवन को धारण करना है। अपने और पराये की समस्यायें समाप्त हो जाती हैं। मित्र और शत्रु के भेद मिट जाते हैं। अराध्य ही सर्वत्र दिखने लगता है उसको। ये जीवन का तीसरा पन है।

उसके जीवन का चौथापन तब शुरू होता है जब वह अपने अराध्य मूर्ति के साथ अपनी ही आत्मा में सम्पूर्ण सचराचर का दर्शन करने लगता है। उसके जीवन का प्रत्येक क्षण आत्म ज्वालाओं में तप–तप कर निखरने लगता है। वह अपने ही शरीर रूपी गर्भ में, अपनी ही आत्मा से अद्वैत कर, आत्म रूप हो जन्मने लगता है। यही उसके जीवन का चौथापन है।

महाराज दशरथ को चौथेपन में चार पुत्र रत्नों की उपलब्धि हुई है। रानियों के सुख का कहना क्या ! बालकों के जन्मते ही सूतक लग गया है। यह सूतक क्या है ?

श्री सनातन धर्म में आदिकाल से यह परम्परा चली आ रही है। जब भी बालक उत्पन्न हो, बारह दिन का सूतक (छूत) मनाई जाती है। नाल काटने के लिए हरिजन (धानुक, चमार) दाई बुलाई जाती है। जब तक नवजात शीशु की छठी (लगभग छह दिन उपरान्त) नहीं होती, जच्चा एवं बच्चा उसी हरिजन दाई के हाथ का छुआ भोज्य पदार्थ ही ग्रहण करते हैं। चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो अथवा राजा या रंक, इस परम्परा का निर्वाह परमावश्यक है। दशरथ जी विद्वान आचार्यों से इस व्यवस्था का कारण पूछते हैं ? जो पुत्रेष्टि यज्ञ से प्रकट दिव्य अमृत से प्रकट हैं ; उनके लिए भी इस व्यवस्था में छूट नहीं है। भला ऐसा क्यों ? विद्वान आचार्य इस परम्परा के रहस्य को स्पष्ट करते हैं।

धर्म ने प्रत्येक व्यक्ति में चारों वर्णों की कल्पना की है। चारों वर्ण ही क्यों ? सम्पूर्ण समाज, राष्ट्र एवं ब्रह्माण्ड, सचराचर, सूक्ष्म रूप में व्याप्त है। ऐसी धर्म की आदि मान्यता है।

"एकोअहम् बहुस्याम" से एको ब्रह्म द्वितीयोनास्ति।"

तक इसी परम्परा का सूत्रपात है।

हे राजन् ! एक माता पृथ्वी तथा एक पिता घट–घट वासी आत्मा से प्रकट होने वाले सचराचर में, अध्यात्म भेद कैसे देख सकता है ? इसीलिए "सनातन धर्म" की परम्पराओं में स्वयं सचराचर के स्वामी भी यदि जन्म धारण करेंगे, तो बारह दिन का सूतक अवश्य मनाया जावेगा, तथा नाल काटने हरिजन दाई ही आवेगी। छठी पर्यन्त जच्चा एवं बच्चा को भोज्य उसी द्वारा ही दिया जावेगा।

हे राजन् ! अज्ञान ही शूद्रता है; कोई व्यक्ति नहीं। इसलिये जन्मता बालक अज्ञानी होने से शूद्र कहलाता है ! चाहे उसने किसी भी कुल में जन्म लिया हो, सूतक मनाया ही जावेगा। यही बालक यज्ञोपवीत धारण करता जब गुरूकुल में प्रवेश करता है, तो गुण एवं कर्म के विभाग से वैश्य कहलाता है। ज्ञानार्जन ही तो जीवन के मूलधन का अर्जन है। ज्ञान से ही तो अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की सिद्धि है। यही तो मनुष्य का मूलधन है। यही तो यथार्थ में धनार्जन है। वैश्य-वृत्ति है। गुरूकुल से उपराम होकर जब बालक गृहस्थ-धर्म में प्रवेश पाता है, तो क्षत्रिय कहलाता है। मायाओं के महासमर का महारथी। जीवन रूपी संग्राम में यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर निरन्तर युद्ध करता वीर, क्षत्रिय गृहस्थ ही तो है। यही व्यक्ति गृहस्थ धर्म से उपराम होकर जब आत्मा की भांति प्राणी मात्र की सेवाओं को धारण करता वानप्रस्थ में प्रवेश पाता है, तो ब्राह्मण कहलाता है। सन्यास वर्णाश्रम व्यवस्था के उपरान्त है। हे राजन् ! धर्म की यह व्यवस्था अनन्त काल से चली आ रही है। अकाट्य एवं अशक्य है।

विद्वान आचार्य सविस्तार दशरथ की शंका का निवारण करते हैं। "जन्मना जायते शूद्रः........" तथा नाना श्रुतियों, कथाओं से सप्रमाण सिद्ध करते हैं। तब दशरथ जी के मन में संदेह उठता है कि यही व्यवस्था समाज में प्रचलित क्यों नहीं है ? यहाँ ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण क्यों है ? क्या समाज में व्याप्त यह परम्परा असत्य एवं भ्रान्तिपूर्ण है ?

आचार्य शंका का समाधान करते हैं। हे रघुनन्दन ! आपकी यह शंका निर्मूल है। आप महान रघु के वंशज हैं। आप महान क्षत्रीय हैं। समाज में जो आप जन्मना

व्यवस्था देख रहे हैं, वह नितान्त सत्य, धर्म प्रदत्त, एवं शास्त्रीय है। अध्यात्म के अनुरूप ही समाज एवं व्यवस्थाओं का सूक्ष्म दर्शन, औचित्य एवं प्रतिपादन, आदि मनीषियों तथा स्वयं भगवान ब्रह्मा द्वारा किया गया है।

जिस प्रकार आत्मा से रहित शरीर नष्ट हो जाता है, वातावरण को अपनी दुर्गन्ध से दूषित कर देता है। उसी प्रकार अध्यात्म से छूटा समाज और सामाजिक व्यवस्थाएँ मनुष्य मात्र के महा विनाश का कारण बनेगी। ऐसा विचार करके स्वयं भगवान ब्रम्हा जी ने प्रत्येक मनुष्य के अनुरूप ही समाज की कल्पना की। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की कल्पना में, एक ही व्यक्ति के जीवन को, समाज के रूप में प्रतिबिम्बित किया गया है। यह व्यवस्था जन्मना है। इस व्यवस्था में–

"एको ब्रम्ह द्वितीयो नास्ति" से "एकोअहम्-बहुस्याम" की कल्पना को चित्रित किया गया है।

कल्पना करें कि नाटक खेलने की भावना से दस सगे भाई एक नाटक कम्पनी में गये। एक नायक बना, दूसरा नायिका का अभिनय करने के उपयुक्त समझा गया तीसरा खलनायक बना। इस प्रकार दसों सगे भाई एक ही मंच पर दस विभिन्न स्तरों पर तथा विपरीत परिस्थितियों का अभिनय कर रहे हैं। नायक और खलनायक का अभिनय करते समय दोनों भाई जानते हैं, कि वे सगे भाई हैं। परन्तु जो मंच की मर्यादा है, उसी के अनुरूप संवाद एवं अभिनय करते हैं। ठीक उसी प्रकार इस जगत रूपी नाट्यशाला में जीवन रूपी नाटक का अभिनय मात्र ही तो मनुष्य का जीवन है। आत्मा होकर हम एक हैं। हममें कोई छोटा बड़ा भी तो नहीं है। परन्तु मंच की मर्यादाओं में ही हमें आचरण संवाद एवं अभिनय करना है। सामाजिक व्यवस्थाओं के पीछे भी यही भावना है, कि अपने सत्य (आत्मभाव) को न भूलते हुये प्रकृति और पुरुष प्रदत्त इस जगत रूपी नाट्यशाला में जीवन रूपी नाटक को मर्यादित होकर खेलें। इसलिए जिस प्रकार एक व्यक्ति में चारों वर्ण की कल्पना है, उसी प्रकार व्यक्ति का विस्तार ही व्यक्तियों का समूह अर्थात् समाज को समझना चाहिए!

हे राजन! आपका मंगल हो? आप महान रघु के वंशज हैं। क्षत्रियों के कुल श्रेष्ठ हैं। हे प्रतापी! आप धर्म के रक्षक हैं! प्रजापालक हैं! आप महान क्षत्रिय धर्म को धारण करें! यही उचित है।

मंच के मुख्य प्रकाश स्तम्भ महर्षि बाल्मीकि, राजर्षि विश्वामित्र एवं ब्रम्हर्षि वशिष्ठ से मंच आलोकित हैं। सन्देह अथवा भ्रम को स्थान ही कहाँ ? मंच के ऊपर से नीचे की ओर जगमगाता विशाल प्रकाश स्तम्भ देवर्षि नारद हैं। उन्हें भी आप भूले नहीं होंगे। इन्हीं के प्रकाश में लीला के रहस्य प्रकट होंगे। सावधान होकर लीलामृत का पान करें।

भगवान श्री रामचन्द्र जी की जन्म–लीला का अवलोकन कर चुके हैं हम ! लीला मधुर, सरस गम्भीरता से बढ़ती जा रही है। पात्र कुशलता से अभिनय करते रहे हैं। कथा आगे बढ़ती जा रही है। छठी का आनन्द हमने लिया। जात–कर्म संस्कार आदि लीलाओं का आनन्द लेते हम नाटक के साथ बढ़ते चलें नामकरण संस्कार की लीला भी अति सुन्दर थी ! बाल लीलाओं के उस मनोरम आनन्द से हमारा रोम–रोम पुलकायमान हो उठा है ! बालक अब पैरों चलने लगे हैं।

दशरथ नन्दन श्रीरामचन्द्र का जन्म पापी दशानन रावण के अन्त के लिए हुआ है ऐसा हम क्षीर सागर लीला में देख आये हैं। कैसा विचित्र संयोग है ? दशरथ में भी 'दश' जुड़ा हुआ है और दशानन में भी 'दश' जुड़ा हुआ है। दोनों नामों के पूर्व में 'दश' लगा हुआ है। परन्तु दोनों के व्यक्ति, व्यवहार, आचरण में क्षितिज की दूरियाँ हैं।

'दशरथ' और 'दशानन' ! मेरे मन की दो अवस्थाएँ ही तो है ! पहचान स्वयं को रे भोले भक्त ! जिसने दस इन्द्रियों को 'रथ' (लगाम लगाना, बाँधना) लिया वह हुआ दशरथ ! जिसने दस (दश) इन्द्रियों को दस मुँह (आनन) बनाया हुआ 'दशानन' ! मन ही दशरथ और मन ही दशानन ! मेरी कहानी ! मेरा नाटक ! ! युग दिखाते मुझको ! ! नाटक का प्रत्येक पात्र मैं ही तो हूँ ! अद्भुत ! विलक्षण ! ! आत्मा होकर मैं ही तो राम हूँ ! घट-घट में रमण करने वाला अजर, अमर, अविनाशी आत्मा ही तो 'राम' है। समझ नहीं पा रहा हूँ कि मंच अपने सम्पूर्ण पात्रों के साथ मुझमें समाता जा रहा है। अथवा मैं ही विस्तार को प्राप्त होता मंच पर छाये जा रहा हूँ।

'एकोब्रम्ह द्वितीयोनास्ति' अथवा 'एकोअहम्बहुस्याम' !

कौशल्या ! 'कौ' अर्थात् असंख्य 'शल्या' अर्थात् शूलों को पीड़ाओं को सहन करने वाली !' अनन्त पीड़ाओं को सहन कर भी जो सबको सुख दे उसे कहते हैं

'कौशल्या !' कौशल्या आदिकाल में पृथ्वी (धरती माता) को कहते थे ! क्यों ? हमने हल के फल से असंख्य शूल दिये धरती माता को (खेत जोतते समय) और प्रत्युत्तर में माँ हमको अन्न और फल देती है! हमने शूल की पीड़ाएं दो! धरती के वक्ष को विदीर्ण किया ! बदले में माँ ने दिये फल, अन्नादिक ! जीवन का सोपान दिया! कौशल्या ! कौशल्या !! आज भी जीव मात्र की जननी कौशल्या (धरती माँ) ही तो हैं ! भगवान की साधिकार माँ, 'कौशल्या' ही हो सकती है ! जब तक मेरी वृत्तियाँ कौशल्या न होंगी, ईश्वर रूपी विचार का जन्म, मेरे जीवन में भी संभव कहाँ ? मन बने दशरथ ! वृत्तियाँ हो कौशल्या ! धन्य हो वह जीवन !

शत्रुघ्न ! जिसने अपने जीवन में विषय, वासना, असत्य, अज्ञान, मोह, अहं, लिप्सा रूपी नाना शत्रुओं का हनन किया, वह हुआ शत्रुघ्न ! बिना इस शत्रु विचारों का हनन किये आत्मतत्व की उपलब्धि कहां ! जब तक विषय नष्ट न हो जीव भक्ति में 'रत' भरत कैसे हो सकता है ? जो बनेगा शत्रुघ्न वही पहुँचेगा 'भरत' तक ! जो मन बनके दशरथ (दश+रथ) हुआ भक्ति में रत (व्याप्त) उसी 'मन' ने पाया जीवन के परम लक्ष्य को ! कहाया लक्ष्मण ! लक्ष्मण ! उसे ही आत्मा का साक्षात्कार मिला ! उसी ने 'राम' का संग पाया और प्राणी की निष्काम सेवाओं की शिरोधार्य करता, वह राम-मय हो, राम ही हो गया । हे राम !!

'सु' कहते हैं आलौकिक दिव्य, 'मित्रा' कहते हैं 'सर्मपिता !' सौमित्र हैं सुमित्रा नन्दन लक्ष्मण और शत्रुघ्न ! एक सर्मपित श्री राम की, तो दूसरे भाई भरत को अर्थात् भक्ति में 'रत' भक्त मात्र को !

थरथराते, (फिसलते, लड़खड़ाते) मन के विचार ही 'मन्थरा' हैं जो 'कही' 'किसने कही' (कै ? कई ?) कैकई को विचलित कर प्रत्येक अयोध्या को उजाड़ते हैं।

★

नारायण हरि !

उपनयन संस्कार

महाराज दशरथ अपनी तीनों रानियों, मन्त्रियों सुहृदों सहित मुदित मन से ध्यान पूर्वक वशिष्ठ के उपदेशामृत का पान कर रहे हैं। चारों राजकुमार ब्रम्हचारी वेष में गुरू वशिष्ठ के सम्मुख पंक्ति-बद्ध बैठे हुये हैं। उनके दोनों ओर आश्रम के तापस, मनीषी एवं ब्रम्हचारी विराजमान हैं। चारों राजकुमारों के यज्ञोपवीत संस्कार की बेला है। पिछली पंक्तियों में नगर के गणमान्य ब्राम्हण, विद्वान, श्रेष्ठ

नागरिक बैठे ध्यानपूर्वक परम तपस्वी, ब्रम्हर्षि, वशिष्ठ मुनि के उपदेश को सुन रहे हैं। सुन्दर रहस्य-लीला चल रही है।

यज्ञोपवीत संस्कार, षोडस संस्कारों में एक अति महत्वपूर्ण संस्कार है। शिक्षा से पूर्व, इस संस्कार की परम्परा रही है। जब तक यज्ञोपवीत संस्कार न हो, बालक शिक्षा का अधिकारी नहीं होता। साथ ही यज्ञोपवीत संस्कार केवल गुरूकुल में ही होता था। इसमें वर्ण-भेद अथवा लिंग-भेद नहीं होता था। जो ज्ञान को धारण करना चाहे उसे गुरू से यज्ञोपवीत ग्रहण करना आवश्यक था।

कालान्तर में; विशेषकर भारत के गुलामी के आरम्भ के युगों में ही यह प्रथा विकृत होने लगी। जिस सम्प्रदाय द्वारा यह संस्कृति गुलामी की बेड़ियों में जकड़ी गई; उस सम्प्रदाय ने नारी को मात्र भोग्या, सम्पत्ति तथा पुरुष की दासी माना। बहु-पत्नियों के अलावा वेश्याओं का मनचाहा समूह रखने का धार्मिक अधिकार उनके धर्म द्वारा उन्हें प्राप्त था। व्यापक रूप से गुलाम सम्प्रदाय की लड़कियाँ जबर्दस्ती उठाने का प्रचलन और जोर पकड़ता गया। गुलाम, विस्थापित, निरीह, संस्कृति को नारी शिक्षा समाप्त कर, स्वयंवर प्रथा से हटकर बाल-विवाह जैसी कुप्रथाओं का सहारा लेना पड़ा। सन्यासी, तापस और मनस्वी निरीह मारे जा रहे थे। उनके आश्रम, गुरूकुल भस्मी के अम्बारों में बदलते जा रहे थे। गुरूकुल शिक्षा-प्राणली भी दम-तोड़ गई। तभी से घरों में ही बालकों के यज्ञोपवीत संस्कार की नई कुप्रथा आरम्भ हो गई। गुरू वशिष्ठ यज्ञोपवीत संस्कार से पूर्व, राजकुमारों को संस्कार का ज्ञान करा रहे हैं!

"………जिस प्रकार बिना नाविक के नाव जल की धाराओं में हिचकोले लेती चट्टानों से टकरा कर ध्वस्त हो जाती है; उसी प्रकार यज्ञोपवीत से रहित ज्ञान को धारण करने वाले की गति है। यज्ञोपवीत ज्ञान को दिशा; जीवन को परम् उद्देश्य तथा जीव को सदा ब्रम्ह से जोड़ने वाला परम पवित्र साधन है!

ज्ञान, गंगा के समान अथाह नदी है। जल के बिना जीवन कल्पना रहित है! उसी प्रकार ज्ञान के बिना मनुष्य-योनि, मृतक के समान है। निष्प्रयोजन तथा धारा का भार मात्र है। ज्ञान रूपी गंगा के पावन जल के अमृत पान से ही जन्म-काल की शूद्रता का त्याग सम्भव है। ज्ञान रूपी गंगा में नहाकर ही जीव मनुष्य-

योनि के परम सत्य उद्देश्य को प्राप्त होता है। परन्तु यह भी न भूलना चाहिए कि ज्ञान रूपी नदी अथाह और असीम है ! इसकी लहरों के साथ खिलवाड़ करने वाला तैराक बीच नदी में डूबकर अकाल मृत्यु को ही तो प्राप्त होगा। इसलिए हे राजकुमारों, ज्ञान रूपी पावन जल की धाराओं में प्रवेश के पूर्व, यज्ञोपवीत संस्कार रूपी रक्षा कवच परमावश्यक है।

यज्ञोपवीत के तीन सूत्र तुम्हारे जीवन के, ज्ञान के, तप और साधना के, तीन मूल उद्देश्य हैं। इन्हीं उद्देश्यों को सम्मुख रखकर ही तुम जीवन - रूपी संग्राम में, यज्ञोपवीत रूपी गाण्डीव को धारण कर, उतर रहे हो। योद्धा को गाण्ड़ीव के प्रति कभी भी असावधान नहीं होना चाहिए।"

गुरू वशिष्ठ राजकुमारों के लिये नाना श्रुतियों से जीवन के उद्देश्य स्पष्ट करते हैं।

"प्रकृति ही परमेश्वर द्वारा लिखा जा रहा, धर्म-ग्रंथ है। इसकी चौरासी लाख योनियाँ ही चौरासी लाख अध्याय हैं। जिनकों पढ़ने के उपरान्त मनुष्य की योनि से जीव नित्य-स्वरूप देवत्व को धारण करता है। मनुष्य की योनि ज्ञान की योनि है। यदि इस योनि को प्राप्त होकर भी जीव स्वयं को न पहचान सका तो क्या वह अन्यत्र (पशु आदि) योनियों में स्वयं को जावेगा ? इस योनि में जीव को संशय रहित होकर ब्रम्ह द्वारा प्रकट हो रही सृष्टि के उत्पत्ति के धारण, सृजन और संहार के सूक्ष्स ब्रम्हज्ञान को प्राप्त होना है। (जानने का अर्थ कर सकने की सामर्थ्य को प्राप्त होना है।) जो ब्रम्ह अर्थात् आत्मा की भांति यज्ञों द्वारा सृष्टि को धारण कर सकने में समर्थ नहीं वह ब्रम्ह ज्ञानी कैसा ?

तुम्हारे यज्ञोपवीत का प्रथम सूत्र है :– जिस प्रकार आत्मा पेड़ों के गर्भ में धारण, सृजन और संहार के यज्ञों द्वारा बूढ़े तन की भस्मी को सुन्दर फलों का स्वरूप प्रदान कर रहा है, उसी सूक्ष्म ब्रम्ह ज्ञान को धारण करना !

एवा ह्यस्य सूनृतां विरप्शी गोमंती मही । पक्वा शाखा न दाशुषे ॥ १.८.८.

प्रत्येक पेड़ पौधे को यज्ञशाला मानना। जहाँ स्वयं परमेश्वर आत्मा होकर यज्ञों के द्वारा, विखण्डित एवं धूलधूसरित हो गये। शरीरों को पुनः सुन्दर फलों में शाखाओं पर लहलहा रहे हैं। वनस्पति मात्र के भक्त, पुजारी एवं उपासक होना।

दूसरा सूत्र है :–

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्रइव पिन्वते। उर्वीरापो न काकुदः॥१.८.७

जिसने आत्मा होकर यज्ञ को धारण किया। गर्भ को यज्ञ कि रश्मियों से प्रकाशित करता चला गया। गर्भ को, यज्ञ के द्वारा, सागर सा सींचता गया। माता का गर्भ क्षीर सागर बना ; जहाँ यह जीव सुखपूर्वक शयन करता, नारायण सा प्रकट हो गया। दूसरा सूत्र इस ब्रम्ह ज्ञान को धारण करना है। यज्ञ की ज्वाला (ब्रम्हाग्नि) ही तो माँ है, तथा आत्मा ही तो अधिष्ठ देव है जो आज भी नाना जीव धारियों के देह रूपी यज्ञ शालाओं में, यज्ञों के द्वारा, यथा उत्पत्ति को सन्तान रूप में प्रदान कराते हैं। इस पुनीत यज्ञ के सूक्ष्म-ब्रम्ह-ज्ञान को प्राप्त होना ही मनुष्य योनि का दूसरा लक्ष्य है। यही यज्ञोपवीत का दूसरा सूत्र है।

प्राणीमात्र में यज्ञ का दर्शन करना। सचराचर को समर्पित होकर जीव का जीना। आत्मा की भाँति, प्राणीमात्र की निष्काम सेवाओं को धारण करना, तुम्हारा परम धर्म है। तीसरा सूत्र ही ऋग्वेद का शुभारम्भ है :–

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥१.१.१

अग्नियों के अधिपति (अग्निम्) प्रलय के देवता ; प्रलयंकर शिव (रूद्र) संहारक की (ईले) स्तुति करें तथा (पुरोहितम्) ज्ञान को धारण कराने वाले ब्रम्हा की स्तुति करे तथा (ऋत्विजम्) सृजक महाविष्णु की स्तुति करें। वे ही (यज्ञस्य देवम्) तो इस शरीर रूपी यज्ञशाला के आत्मा होकर त्रिदेव हैं।

अ उ म् अर्थात् हैं।

अ–अस्तित्व, तत्व, धारक, ब्रम्हा : धारण !

उ–उत्पत्ति, सृजक, विष्णु : सृजन !

म्–मृत्यु, मृत्युन्जय, महेश : संहार !

अर्थात् रूद्र, ब्रम्हा, विष्णु की स्तुति करें जो आत्मा होकर घट-घट में व्याप्त । जो निष्काम भाव से न्योछावर कर रहे जीवन के स्वर्ण क्षण। रत्नमयी पलब्धियाँ ! (होतारम् रत्नधातम्) ऐसे परम पुनीत आत्मा को अन्तर्मुखी होकर;

हम आत्म-साक्षात्कार करें। निज देह को ईश्वर की यज्ञशाला मानते हुये ; जीव होकर निमित्त भाव से, आत्मा को समर्पित होते हुये ही जीवन के अमृतमय क्षणों का सदुपयोग करें। आत्मवत जियें ! आत्म-यज्ञार्थ जियें ! आत्म सेवार्थ जियें! ·····!!

मन्त्र मुग्ध दशरथ जी, राजकुमार एवं जन–मानस महातपस्वी ब्रम्हज्ञानी वशिष्ठ जी के अमृतमय प्रवचन का पान कर रहें हैं।

"·····तीन सूत्र संक्षेप में बताये। इसका विस्तार वेद के अध्ययन काल में तुम पाओगे। तीन सूत्रों के यज्ञोपवीत की सप्त गांठें, तुम्हारी सप्त देवों, सप्त लोकों को साक्षी करके, सप्त प्रतिज्ञायें होंगी। सप्त विषयों के उपराम हो, सप्त अग्नियों से रहित होकर, आठवीं ज्वाला (ब्रम्हज्वाला) आत्मा के प्रति समर्पित होकर जीने की सप्त प्रतिज्ञायें तुम्हारी होंगी।

जीव होकर तुम इस शरीर रुपी रथ में आरूढ़ महारथी हो ! आत्माजो इस शरीर को जीवन के क्षणों से चलायमान, जीवन्त कर रहा है, सारथि है। यज्ञोपवीत गाण्डीव है ! मायाओं का महासमर ही जीवन का प्रत्येक क्षण है। हे यज्ञोपवीत धारी पुनीत, महायोद्धा, तुझे जीवन संग्राम में जयी यशस्वी होना है ! तुम्हारा मंगल हो ! अब यज्ञोपवीत संस्कार के कार्यक्रम का शुभारम्भ करते हैं ! ..."

शिक्षा से पूर्व यज्ञोपवीत संस्कार का औचित्य हम तभी जान सकते हैं जब हम अतीत को लाँघते उस युग में प्रवेश पावें, तथा एकाग्र हो, विस्तार से इस महान संस्कार के ज्ञान को प्राप्त हों।

कल की शिक्षा का उद्देश्य था कि वह वनस्पति मात्र का समर्पित उपासक भक्त हों ! धरती सा विशाल हो ! प्राणीमात्र में यज्ञ का दर्शन करता प्राणीमात्र को समर्पित होकर जिये ! परमेश्वर सा महान हो ! निज देह को भी एक ईमानदार निमित्त (ट्रस्टी) सा धारण करें ! ऐसा पुनीत अमृतमय चत्रिवान हो !

आज की शिक्षा के उद्देश्य ?

अच्छी नौकरी, मोटी तनखा और खूब तगड़ी ऊपर की आमदनी [घूस] ! एक परिवार के सीमित हितों के लिए, मैं सारे संसार को रावण सा नोच डालूं ! इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्राइमरी क्लास के अध्यापक से लेकर विश्वविद्यालय के कुलपति तक प्रयत्नशील हैं ? मातापिता इसी उद्देश्य के लिये दिन-रात बेचैन हैं ! क्या ऐसा नहीं है ?

★

मुनि विश्वामित्र का आगमन

चारों राजकुमार गुरु वशिष्ठ जी के पावन चरणों में समर्पित होकर नाना विद्याओं एवं ज्ञान की धाराओं में पारंगत हो रहे हैं।

श्री सनातन धर्म में मन्दिर एवं यज्ञशाला भी लीला रहस्य के समान पावन तीर्थ तथा मनुष्यता को देवत्व से युक्त कर धरा को पावन स्वर्ग बनाने वाले हैं।

मन्दिर हमारा ही प्रतिबिम्ब है जिस प्रकार बालक प्रभु की साधना में बैठता है; उसी रूप को मन्दिर, मूरत एवं पुजारी के रूप में प्रतिबिम्बित किया गया है। यथा:-

पल्थी के जैसा मन्दिर का चबूतरा। धड़ (शरीर का मध्य भाग) के जैसा गोल कमरा। सिर के जैसा मन्दिर का गुम्बद। जटाओं के जूड़े सा कलश तथा आत्मा जैसी ही मूरत। जीव की भाँति मन्दिर में खड़ा पुजारी। मन्दिर मेरा ही प्रतिबिम्ब है। जो धर्म पुजारी का मन्दिर तथा मूरत के प्रति है, वही धर्म मुझ जीव रूपी पुजारी का शरीर रूपी मन्दिर तथा आत्मा (ईश्वर) रूपी मूरत के प्रति है। मेरा सर्वांग दर्पण ही प्रभु का मन्दिर है। मन्दिर से नित्य निरन्तर प्रतिबिम्बित एवं प्रतिध्वनित होते हैं मेरे असंख्य निखरते पावन मुखरित भाव !

पुजारी मन्दिर का निमित्त सेवक (ट्रस्टी) है ! स्वामित्व तो प्राण प्रतिष्ठित मूर्ति में निहित है। मैं भी इस शरीर मन्दिर का मात्र निमित्त सेवक ही तो हूँ ?

पुजारी मन्दिर को सदा पवित्र रखता है। तथा पवित्र भोजन ही प्रभु मूरत को अर्पित करता; है भोग सामिग्री के रूप में ! मैंने जो भोजन ग्रहण किया उसे आत्मा श्रीराम को ही तो समर्पित किया !

पुजारी मूर्ति के गहने चुराकर बेच नहीं सकता। ऐसा करना महापाप है। इन्द्रियां और जीवन के सम्पूर्ण क्षण आत्मा श्रीराम के ही तो आभूषण हैं !

प्रभु आत्मा होकर जीव मात्र में अभेद हैं। धर्म+आत्मा=धर्मात्मा ! जिसने जीव मात्र में अभेद होकर एक ब्रह्म नहीं देखा वह स्वयं को धर्मात्मा कहने का अधिकारी है ?

आत्मा और प्रकृति निष्काम सेवक बनकर प्रत्येक देह (पेड़, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि) को प्रकट करते तथा निष्काम भाव से उसकी रक्षा, सेवा एवं जीवन के अमृतमय क्षण प्रदान करते हैं। आत्मा (ईश्वर) तथा प्रकृति की निष्काम सेवाओं का स्वरूप यह शरीर क्या प्राणी मात्र निष्काम सेवा का हेतु (मात्र) नहीं है ?

आरती का थाल लिये; मन्दिर में मूरत के सम्मुख; मंगल शंख ध्वनि और मोहक घन्टियों के मधुर झंकृत क्षणों में काश! मैं; स्वयं से पूछ पाया होता! हे राम! !

ऋग्वेद ने यज्ञ को प्रतीकात्मक प्रक्रिया के रूप में ही स्वीकारा है। मनुष्य के जीवन की प्रतिबिम्बित प्रक्रिया ही यज्ञ का मूल स्वरूप है।

पूछा यज्ञ का आचार्य कौन ?

आत्मा ! शरीर रूपी यज्ञ शाला में आत्मा ही यज्ञ का अधिष्ठित आचार्य है। वाह्य यज्ञ में आत्मा का प्रतीक स्वरूप यज्ञ के आचार्य के रूप में ऋत्विज को ग्रहण करो !

यज्ञ का उपाचार्य कौन ?

प्राण वायु! ! जहाँ आत्मा आचार्य है वहाँ प्राण वायु ही जीवन यज्ञ का उपाचार्य (अच्छावाक्) है। उपऋत्विज को उपाचार्य के रूप में ग्रहण करो।

यज्ञ की ज्वाला क्या है ?

ब्रह्म ज्वाला (आत्म ज्वाला में) अश्विना ही यज्ञ की ज्वाला है। इन्हीं पवित्र अमर रश्मियों में यज्ञ होकर सचराचर पुनः पुनः जीवन्त हो रहा है। आत्म ज्वालाओं का प्रतीक बाह्य यज्ञ में पवित्र अनल प्रकट करो।

यज्ञ की सामिग्री क्या हो ?

तुम्हारा सम्पूर्ण शरीर एवं जीवन के सम्पूर्ण क्षण ही सामिग्री हैं। बूढ़े तन की राख जब पेड़ों के गर्भ में यज्ञ हुई तो पावन फलों एवं अन्न में यज्ञों द्वारा प्रकट हुई! भोजन के रूप में जब दम्पत्ति ने ग्रहण किया तो आत्म ज्वालाओं में यज्ञ होकर वह अन्न रूपी सामिग्री शिशु की देह में प्रकट हुई। यह तुम्हारी देह ही पवित्र यज्ञ सामिग्री है। बाह्य यज्ञ में जिस अन्न, धृत आदि से यह शरीर बना है उसे सामिग्री के रूप में ग्रहण करो !

यज्ञ का यजमान कौन ?

जीव होकर यज्ञ के यजमान तुम्हीं हो। भीतर भी और बाहर भी। यजमान उभय है। भीतर के यज्ञ मे आचार्य और प्राण उपाचार्य का पूजन करता हुआ आत्म ज्वालाओं में शरीर रूपी सामग्री को आत्मयज्ञार्थ सर्मपित कर, रे जीव यजमान !

बाह्य यज्ञ में आचार्य और उपचार्य के सम्मुख पवित्र यज्ञाग्नियों अन्नधृत रूपी सामग्री के साथ भस्म कर दे असत्य, मोह, अज्ञान, मिथ्याभिमान ! जलाकर बाह्य जगत को बाहर; फिर सम्मुख हो अपने आत्मा प्राणेश श्रीराम के ! हर क्षण जीवन का आत्म ज्योतियों में यज्ञमय हो जावे ।

चारों मोहक राजकुमार अपने गुरू से अमृत मय ज्ञान को धारण करते जन-जन को सुखी कर रहे हैं । दशरथ जी के सुख का तो कहना ही क्या है ।

तभी, एक दिन महाराज के दरबार में मुनि विश्वामित्र आते हैं । उनके यज्ञ का विध्वंस असुर करते हैं । सभी मुनिजन असुरों के आतंक से भयभीत हैं । मुनि विश्वामित्र यज्ञ की रक्षा के लिए बालक श्रीराम एवं श्री लक्ष्मण जी को साथ ले जाने की इच्छा करते हैं । दशरथ जी बालकों के स्थान पर चतुरंगिणी सेना देने का हठ करते हैं । विश्वामित्र नहीं मानते हैं । उनके हठ के सम्मुख महाराज दशरथ नतमस्तक होते हैं । महामुनि विश्वामित्र दोनों बालकों को लेकर लौट जाते हैं ।

नारायण हरि !

★

ताड़का और मारीच

धनुषबाण से सुसज्जित दोनों सुन्दर श्याम एवं गौर राजकुमार महामुनि विश्वामित्र के साथ चल रहे हैं । महामुनि अति प्रसन्न हैं । दशरथ जी द्वारा सारी सेना के देने के प्रस्ताव के विचार मन में उभरते हैं तो मुस्करा उठते हैं । भोले दशरथ भला सांसारिक सेनायें कहीं असुरत्व को मिटा सकती हैं ? ब्रह्म श्रीराम एवं श्रीराम में पूर्णतः समर्पित संकल्पित मन "लक्ष्मण" ही मात्र उत्तर है । असुर मायावी हैं, वे अदृश्य होकर माया युद्ध करते हैं । वे जन्मते ही बढ़ने लगते हैं ! क्षण मात्र में शिशु से युवा हो उठते हैं । असुर हमारे भटकते गन्दे विचार ही तो हैं । जन्मते ही विकराल हो उठते हैं । अदृश्य होकर माया युद्ध करते हैं । उन्हें भौतिकता रूपी सेनायें; यदि बढ़ायें नहीं, तो मिटा तो कदापि नहीं सकती । ब्रह्म श्रीराम जो घट-घट वासी आत्मा हैं तथा श्री लक्ष्मण जी आत्मा के प्रति अन्तिम रूप से समर्पित संकल्पित मन है । उन्हीं के द्वारा असुर वृत्तियों का संहार सम्भव है । हे राम ! तुम्हारी कथा ही जीवन का अमृत है ।

महाभारत युद्ध की तैयारियाँ पूर्ण यौवन पर हैं ! कौरव पाण्डव - राजाओं को अपने पक्ष में करने में लगे हुए हैं । दुर्योधन एवं अर्जुन, दोनों भगवान श्रीकृष्ण के सम्मुख बैठे उनसे सहायता की याचना कर रहे हैं । भगवान कहतेहैं; वे वानप्रस्थ धर्म को धारण कर चुके हैं । हथियार नहीं उठा सकते हैं । अधिक से अधिक रथ हांक देंगे । एक ओर सेना है तो दूसरी ओर निहत्थ कृष्ण । पहले अर्जुन को मांगना है । अर्जुन कहते हैं, उन्हें तो निहत्थे श्रीकृष्ण चाहिये । सेना दुर्योधन ले जावे । जीवन रूपी संग्राम में भौतिकता रूपी सेनाओं को पाकर जीवन को भटकाया तो जा सकता है परन्तु जीवन का अभीष्ट; ईश्वर द्वारा निर्धारित लक्ष्य, कभी नहीं पाया जा सकता । गृहस्थ ही जीवन संग्राम का महारथी अर्जुन है । उसका रथ वानप्रस्थ धर्म ही कुशलता से संचालन कर सकता है । भौतिकवाद का सेना समूह उसे मात्र भटका सकता है ।

प्यारे भक्त ! इस कथामृत को हृदयागंम करो ब्रह्मज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान को समर्पित मन भी हो जाये तो क्या ? मंजिल अभी दूर है । प्राणी मात्र को समर्पित होकर जीने की वृत्ति विश्वामित्र के बिना सब अधूरी है । ईश्वर को घट-घट वासी जानकर, ईश्वरीय भाव से प्राणी मात्र को समर्पित होकर जीना ही विश्वामित्र है । महामुनि विश्वामित्र के पीछे श्रीराम एवं श्री लक्ष्मण जी की वन को जा रही मनोरम झांकी को सदा के लिए धारण करो ! संसार रूपी जंगल में आत्म ज्ञान, समर्पित मन एवं निष्काम सेवा; स्वरूप धारण कर, विचार रूपी असुरों को समाप्त करने के रहस्य स्पष्ट करने जा रही है । श्रीराम के रूप में स्वयं अध्यात्म को देखो ! श्री लक्ष्मण, आत्मा को पूर्ण समर्पण के प्रेरक हैं । श्री विश्वामित्र (विश्वस्यमित्रः) प्राणी मात्र को, ईश्वरीय भाव से समर्पित निष्काम सेवा है । जीवन का प्रयाग है यह श्रीराम कथा ही प्रयाग राज तीर्थराज है । कुम्भ का अमृत यहीं छलकता है ।

अचानक वन में भयंकर शोर हो उठता है । विश्वामित्र दोनों राजकुमारों को सावधान करते हैं । असुर समूहों के प्रकट होने के क्षण हैं । श्रीराम एवं लक्ष्मण धनुष बाण लिये सतर्क, सावधान उनके आगमन की प्रतीक्षा में हैं । तभी ताड़का और मारीच अपने समूहों के साथ प्रकट होते हैं । भयंकर युद्ध छिड़ जाता है । ताड़का तथा सारे असुर मृत्यु को प्राप्त होते हैं, परन्तु मारीच नहीं मरता है । सौ योजन दूर सागर के किनारे घायल होकर गिर जाता है ।

"ताड़का"!! दूसरों को ताड़ना देने की वृत्ति ही तो ताड़का है। प्राणी मात्र को समर्पित हुये बिना इसको स्वयं में खोज पाना भी सम्भव नहीं। मारना तभी सम्भव होगा जब आत्म ज्ञान एवं समर्पित भक्ति, निष्काम सेवा से जुड़ेगी, तभी "ताड़का" स्पष्ट होगी और आत्म ज्ञान एवं समर्पित तपस्या द्वारा यह असुर वृत्ति निर्मूल होगी।

मारीच!! मृग तृष्णा! नाना विषय वासनाओं की मृगमरीचिकायें ही मृगतृष्णायें मारीच हैं। इन्हें स्वयं से दूर फेंका जा सकता है। परन्तु किसी भी क्षण की असावधानी में यह पुनः सोने की लंका दिखा सकती हैं। सावधान! मारीच अभी मरा नहीं है।

नाना असुर समूहों का वध करते भगवान श्रीराम चन्द्र एवं श्री लक्ष्मण जी ऋषियों के यज्ञों की रक्षा करते हैं। ऋषिगण उन्हें ब्रह्म के सूक्ष्म रहस्यों तथा नाना प्रकार के अस्त्र, शस्त्र, शक्तियों एवं विद्याओं में पारंगत करते हैं। ऐसी शक्तियां एवं विद्यायें जिन्हें अयोध्या में रहकर, सम्भवतः, पाना सम्भव नहीं है। सच ही कहा है कि सत्य का ज्ञान एवं सूक्ष्म ब्रह्म के रहस्य प्राणी मात्र को निष्काम सेवा द्वारा ही पाये जा सकते हैं।

जब ऋषि यज्ञ करते थे तो असुर उनके यज्ञ में शराब और मांस डालकर उनके यज्ञ को अपवित्र करते थे। आज भी प्रभु स्वयं आत्मा होकर प्रत्येक शरीर में यज्ञ करते हैं। वे ही यज्ञ द्वारा भोजन को तेज, ओज एवं जीवन के क्षणों में यज्ञ द्वारा प्रकट करते हैं। इसमें बहुत से असुर हैं जो आत्मा द्वारा किये जा रहे पावन यज्ञ को शराब एवं माँस द्वारा अपवित्र करके अपने जीवन को नर्क बनाते हैं।

नारायण हरि!

लक्ष्मी जी का अवतरण

सद्य सुवासिता, ऐश्वर्यमयी मिथिलापुरी महाराज जनक को पाकर धन्य है। महा-प्रतापी शूरवीर मिथिलेश जनक के तप, बल, शौर्य एवं विवेक के कारण मिथिलेशपुरी अजेय रही है। सप्तद्वीप पति, दशानन रावण लंकेश ; ललचाई निगाहों से मिथिला को देखते रहे हैं। परन्तु आक्रमण करने की हिम्मत उनमें भी नहीं हुई। सुर, देव, किन्नर, गन्धर्व, इन्द्र सबको जीतने वाले दशानन रावण मिथिलेश से युद्ध की कल्पना से कतराते रहे हैं।

मिथिलेश की अनन्य सुन्दरी, तपस्विनी, लक्ष्मी का साक्षात स्वरूप एक कन्या है। जिसका नाम उन्होंने सीता रखा है। यह कन्या उन्हें यज्ञ के उपरान्त हल चलाते समय एक घट में बन्द धरती में छिपी हुई मिली थी। हल के फल (जिसे सीता कहते हैं) से टकरा कर प्रकट हुई तो नाम पड़ा– सीता ! धरती से प्रकट हुई सो कहलायीं भूमिसुता, धरती की बेटी! महाराज जनक द्वारा पुत्री के रूप में धारण किया इससे कहलायीं जनक सुता, जनक नन्दिनी, जानकी।

जानकी के घट में प्रकट होने की कथा भी विचित्र है। इसका सम्बन्ध सप्तद्वीप पति दशानन रावण से जुड़ा हुआ है। आततायी रावण ने कर (टैक्स) के रूप में ऋषियों का रक्त एक घट में एकत्र किया। ऋषि धनवान नहीं थे ! बेचारे, रावण को प्रभु की धरती पर रहने का 'कर' स्वर्ण में चुका न पाते थे। बदले में रावण उनदा खून निकाल लेता था। उसी रक्त को उसने एक बड़े घट (मटके) में रखा। निरीह ऋषि तड़प कर रह जाते। आततायी रावण का सामना करने की सामर्थ्य उनमें न थी। ऋषियों का रक्त जब लंका में आया तो लंका में अकाल पड़ गया रावण जान गया कि सताये ऋषियों के रक्त के घट के कारण ऐसा हुआ है। उसे ऋषियों के श्राप का भी ज्ञान हो गया। उसने रक्त से पूर्ण घट को चुपके से मिथिलापुरी में जाकर गाड़ दिया। मिथिला में अकाल पड़ गया। महाराज जनक ने अकाल तोड़ने के लिए यज्ञ किया। यज्ञ के उरान्त हल चलाकर जब धरती जोत रहे थे। तो

अचानक हल का फल पूर्व छिपाये हुए घट से टकराया। घट को निकालकर देखा गया। ऋषियों का रक्त सुन्दर कन्या के रूप में तब तक प्रकट हो चुका था। ऋषियों ने श्राप भी दिया था कि उनके रक्त के कारण ही रावण महाविनाश एवं मृत्यु को प्राप्त होगा। परम ज्ञानी अर्न्तदृष्टा जनक उस कन्या को देखकर मुस्कराये, भविष्य की कल्पना का आभास कर उन्होंने मन ही मन कन्या को प्रणाम किया। प्रकट में उठाकर उसका चुम्बन लिया तथा उसे अपनी पुत्री के रूप में ग्रहण करने की घोषणा की। इस कन्या के कारण धरा असुरों के पाप के भार से मुक्त होगी। इसी के कारण स्वयं महाविष्णु लीलावतार धारण कर मिथिला को धन्य करेंगे तथा मिथिलेश के जामाता होंगे। भविष्य की कल्पनाओं में मुदित असीम सुख एवं आनन्द को प्राप्त मिथिलेश कन्या को महल में लाते हैं।

कन्या विवाह के योग्य हुई है। एक बार बचपन में खेल-खेल में उसने राजा जनक के यहां रखा शिव का धनुष उठा लिया था। महाराज स्तब्ध देखते रह गए थे। उन्होंने मन में धारण किया था जो इस धनुष को उठाकर इसका सन्धान करने में सक्षम होगा, उसी से विवाह करूँगा इस कन्या का।

जानकी को विवाह योग्य जानकर महाराज ने उन्हें अपने मन की बात बतायी तथा स्वयंवर की घोषणा के साथ धनुष वाली बात बताई। जिसे जानकी ने स्वीकार किया। जानकी की इच्छा के विपरीत महाराज को शर्त लगाने का अधिकार भी तो नहीं था। स्वयंवर की परम्परा में पूरे अधिकार स्वतन्त्र रूप में कन्या में ही निहित होते थे। अतः जानकी की अनुमति लेना जरूरी था। सुर विचारधारा की आस्था स्वयंवर में थी परन्तु असुर ने नारी को मात्र भोग्या, मिट्टी का खेत मात्र माना था। वहाँ पुरूष को हर सारे अधिकार थे। इसलिए स्वयंवर केवल सुर विचारधारा को मान्यता देने वाले क्षत्रियों तक सीमित था। असुर बहिस्कृत थे। स्वयंवर की घोषणा चहुँ ओर फैलने लगी।

महामुनि ने स्वयंवर की घोषणा सुनी तो मन ही मन मुस्कराये। पुरूष और जीव रूप प्रकृति सम्मुख होने की मधुर लीला के क्षण जान, मन ही मन मुदित श्री राम एवं श्री लक्ष्मण को लेकर अन्य तापस ऋषियों के साथ मिथिला की ओर चल पड़े। श्री राम आत्मा की रूपक लीला करेंगे तथा स्वयं महामाया महालक्ष्मी जीव

की रूपक लीला करेंगी। अध्यातम ज्ञान की गूढ़ पहेली सरस और सरल होकर स्पष्ट एवं मूर्तिमान होगी।

घट से कन्या के प्रकट होने की कथा के अध्यात्मिक पक्ष पर विचार करें, ये कथा भी मुनि याज्ञवल्क के नाम जैसी ही रहस्यमय है।

कथा में हमने देखा ; कि रावण ऋषियों के रक्त से घड़ा भर रहा था। ऋषि कहते हैं ! साधक को, तथा हमारे चारों ओर मौन घट ये वृक्ष हैं ; ये प्रकृति के मौन ऋषि ही तो हैं। राग, द्वैष, घृणा, लोभ, मोह इत्यादि कलुषित भावनाओं से नितान्त अछूते हैं। निष्काम सेवाओं में सदा लगे रहते हैं। हमारे ही पूर्वजों के तन की मिट्टी को यज्ञ के द्वारा फलों और वनस्पतियों में लुटा देते हैं। कोई इच्छा नहीं रखते हम सब, इन्हीं वृक्षों के रक्त अर्थात् फल आदि से बनते हैं। यूं महालक्ष्मी भी सीता के रूप में लीलावतार धारण करती हैं। अन्न ही छुपे रूप से घट में बालक का स्वरूप ग्रहण करता है।

जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है :-

इन्द्रायाहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः। उप ब्रह्माणि वाघतः ॥१.३.५.

(इन्द्रयाहि) अर्थात् ब्रम्ह ज्वालाओं का आह्वान किया (विप्रजूतः) बुद्धिमान दम्पत्ति ने (धियेषितो) धारण करने की इच्छाओं से प्रेरित होकर (सुतावतः) पुत्रवत। अर्थात् जब एक बुद्धिमान दम्पत्ति ने वृक्षों से प्रकट हुए उस अन्न को पुत्रवत् धारण करने की इच्छाओं से प्रेरित होकर ग्रहण किया (उप) व्याप्त हो गए (ब्रम्हाणि) ब्रह्म अग्नियों में (वाघत) में प्रलय हेतु। अन्त बनकर माता की देह में, यज्ञ ज्वालाओं में प्रलय हेतु व्याप्त हो गये।

इन्द्रायाहि तूतुंजान उप ब्रह्माणि हरिवः। सुते दधिष्व नश्चनः ॥१.३.६.

(इन्द्रायाहि) आह्वान हुआ ब्रम्ह ज्वालाओं का। प्रकट हो गये ब्रह्म अग्नियों के गर्भ में ! जलने लगे मेरे ही अंग जो भस्मी से फल बने थे। (तुतुजान) प्रलय में जले, हम ज्योति के कण हो गये ; अंग हमारे। (उप ब्रह्माणि हरिवः) पुनः उसी

गर्भ में ज्योति कणों को मथानी के द्वारा प्रकट किया, सृजन किया। (नः चनः) हम जो अन्न का स्वरूप थे। सृजन की मथानियों के द्वारा (सुतेदधिष्व) पुत्र बन गर्भ के क्षीरसागर से प्रकट हो गये। अन्न से बालक का स्वरूप बना हमारा।

वे फल ही ऋषियों अर्थात् पेड़ों का रक्त हैं जिसे कोई हममें ही रावण बनकर लिप्सार्थ बटोरता, बेचता है। पेड़ों ने कब पैसे मांगे ? वे फल ही तो हैं जो इस गर्भ रूपी घट में एकत्र होकर बालक की देह का रूप धारण करते हैं। प्रत्येक देह इन ऋषियों (पेड़ों) का रक्त ही तो है। मिट्टी बनी फल। फल तथा अन्नादिक गर्भ में बालक के शरीर का स्वरूप ले बैठे। प्रत्येक देह (शरीर) धरती की बेटी, भूमि सुता, सीता ही तो है। दोनों कथायें एक साथ पढ़ते चलें एक ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संयुक्त कथा तथा दूसरी विशुद्ध आध्यात्मिक। जहां मन ही दशरथ, मन ही दशानन। आत्मा अमर श्री राम। जीव की प्रकृति, प्रवृत्ति बुद्धि धरती की बेटी सीता ! उत्तर देवालय। जीवन की अयोध्या। दक्षिण दशानन मन की सजी रूपहली सोने की भ्रमात्मक लंका ! श्मशान में लेटी जिन्दगी।

भूल कर भी न मांगना सोने का मृग! (मृगतृष्णा)
मृग सोने का मिलेगा नहीं, मिलेगी सोने की लंका।
खो जावेंगे जीवन के अमृत क्षण और आत्मा श्री राम।

*

नारायण हरि !

अहल्या

भौतिक दरिद्रता कभी भी मिट सकती हैं। भौतिक दरिद्रता इतनी पीड़ा दायक भी नहीं होती। भाग्यहीन वे हैं जो विचारों के दरिद्र है; चाहे वे धनवान हों अथवा धनहीन। विचारों के दरिद्र, राष्ट्र, समाज, मानवता तथा स्वयं को निरन्तर पीड़ा देकर सम्पूर्ण जीवन को सारहीन तथा कैंसर का फोड़ा बनाने वाले है। रहस्य लीलायें उनकी वैचारिक दरिद्रता को मिटाकर उन्हें विचारों का धनवान ही नहीं वरन् विचारो का सृष्टा बनाने में सक्षम हैं। काश! वह इन महान लीलाओं में छिपे अमृत का साक्षात्कार करके इन्हें पी पाये होते।

महामुनि विश्वामित्र के संग तापस ऋषि गण तथा श्रीराम एवं लक्ष्मण जी की नयनाभिराम मोहक जोड़ी बनों को पार करती मिथिला की ओर अग्रसर है। चहुँ ओर प्रकृति की मोहक छटा है। सामने सुन्दर ऋषि आश्रम दृष्टिगोचर हो रहा है। परन्तु जन विहीन सा लगता है। वृक्ष लतायें अव्यवस्थित सी चहुँ ओर फैलकर आभास दे रही हैं, मानों मनुष्य के हाथों ने वर्षों से इस स्थान को सजाया संवारा न हो। जब वे और अधिक समीप होते हैं तो उन्हें पत्थर की एक अनन्य सुन्दरी नारी दृष्टिगोचर होती है। श्रीराम उस प्रतिभा को देखकर ठिठक जाते हैं। जिज्ञासावश महामुनि विश्वामित्र की ओर देखते हैं।

विश्वामित्र रहस्य स्पष्ट करते हैं। पत्थर की शिला सी मूर्ति, गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या है। गौतम ऋषि के श्राप के कारण उसका शरीर पात हो गया और वह शिला सी धरती पर पड़ी हुई है। गौतम ऋषि परम तपस्वी तेजस्वी एवं ब्रम्हनिष्ठ ऋषि थे। उनकी पत्नी अहल्या अनन्य सुन्दरी एवं पतिव्रता थी। उनकी सुन्दरता की धाक तीनों लोकों में थी। देवराज इन्द्र का मन डोल गया। वह काम पिपासु हो उठा। कामान्ध इन्द्र ने चन्द्रमा को भी पापकृत्य के लिए फुसला लिया। चन्द्रमा और इन्द्र मध्य रात्रि में ऋषि गौतम के आश्रम में आये। चन्द्रमा ने मुर्गे का

रूप धारण किया और मध्य रात्रि में ही बाँग लगाने लगा। भोर का भ्रम ऋषि गौतम को हुआ और ब्रम्ह मुहूर्त के भ्रम में वे नदी पर नहाने चले गये। ऋषि के कुटिया के बाहर हटते ही, इन्द्र ने गौतम का रूप धारण किया और भोली अहल्या के सतीत्व को नष्ट कर दिया। उधर ऋषि गौतम को नदी तट पर भ्रम का भान हुआ। उन्होंने ध्यानस्थ होकर इन्द्र के इस कुकृत्य को देखा तो इन्द्र तथा अहल्या को अभिशप्त कर दिया। इन्द्र सदा के लिए नपुंसक हो गया। अहल्या का शरीर पत्थर का हो गया। पत्थर का शरीर होने की कथा केवल तुलसी कृत श्रीराम चरित्र मानस तथा समकालीन ग्रन्थों में आयी है। बाल्मीकि तथा पूर्वकाल के अन्य ग्रन्थों के अनुसार अहल्या अभिशापवश भस्मी बनकर धरा पर छितरा गयी। शरीर के भस्मी होते ही, अशरीर अहल्या अदृश्य तड़प उठी। उसने ऋषि गौतम से अपनी अबोधता बतायी तथा दया की भीख मांगी। ऋषि गौतम ने कहा कि अहल्या अशरीर और अदृश्य रहकर अपनी देह को भस्मी पर शयन करे। तथा प्रायश्चित करे जब महाविष्णु श्रीराम के रूप में लीलावतार धारण कर इधर से जा रहे होंगे तभी उनके पावन चरणों का स्पर्श पाकर वह शाप मुक्त होगी।

विश्वामित्र ने कहा, 'हे राम ! तुम अपने पावन चरणों का स्पर्श दो!'

भगवान श्रीराम के चरणों का स्पर्श मिलते ही अहल्या सुन्दर मनोहर स्वरूप में प्रकट हो उठी। उसने भगवान श्रीरामचन्द्र एवं सभी की स्तुति की तथा उनसे आज्ञा लेकर पति लोक को गमन कर गई।

मुनि याज्ञवल्क के स्तर पर लीला के रहस्य में झाकें ! 'गौ' का अर्थ है 'प्रकाश' रोशनी, तेज 'तम' का अर्थ है अन्धकार! 'गौ' प्रकाश, दिन! 'तम' अन्धेरा, रात! दिन और रात के कदमों से निरन्तर आगे बढ़ता जा रहा काल(समय)ही तो गौतम है। अहल्या' का अर्थ है वह धरती जिस पर कभी हल न चला हो। कौन है अहल्या ? जीव, जीव की प्रकृति ! यह देह हमारी।

इससे पूर्व जब किसी जनक का हल चला था तो खेत की खाद युक्त मिट्टी ही तो थी जो फलों में लौटी। जब आत्मा रूपी जनक का हल चला था तो अन्न ही तो था, जो माता की देह में अहल्या सा सुन्दर स्वरूप ग्रहण करता जन्म ले सका।

अब यह प्रकृति 'अहल्या' हो गई। साधना का हल चला जो नहीं। यदि साधना का हल चलता तो 'तप' रूपी अंकुर फूटते ! 'ब्रम्हज्ञान' के पुष्प खिलते 'मोक्ष' रूपी फल लगते।

इस देह रूपी अहल्या का पति गौतम अर्थात् दिन और रात के कदमों से भागता 'काल', समय ही तो है । समय की पत्नी– यह देह हमारी! गौतम की पत्नी अहल्या! समय की सीमाओं में बंधी ! समय का खिलौना ! टूटता समय के हाँथों !

'इन्द्र ' कहते हैं मन को ! 'इन्द्र' माने 'मन' ! अर्थात् समय की पत्नी अहल्या, इन्द्र अर्थात् मन को ही गौतम (पति) के रूप में अंगीकार कर बैठी । भूल गई समय की सीमाओं के बंधन ।

इन्द्रियों के द्वार ! भौतिकता के बाजार में बैठी इन्द्र (मन) से सतीत्व लुटाती फिरो । उसकी गोद में जो सोई ! सोती ही रह गई । गौतम अर्थात् समय ; अपने दिन और रात रूपी कदमों से निर्बाध बढ़ता चला गया । वह न कभी किसी के लिए रूका । समय से छूटी, इन्द्र ने नष्ट की यह देह हमारी! फिर गौतम से अभिशप्त हो चिता की लकड़ियों पर भस्मी के अम्बार में लौट गई । गौतम की पत्नी ! इन्द्र प्रिया ! अभिशप्त जिन्दगी हमारी । आवेंगे जब लीला करते घट-घट वासी आत्मा रूपी श्रीराम ! उन्हीं आत्मा का स्पर्श पा तन की भस्मी पुनः फल, वनस्पतियों तथा नाना जीव योनियों में सजीव होगी । गौतम से इन्द्र तक ! अभिशाप से पुर्न देह धारण तक निरन्तर, हर ओर, हर क्षण, भटकती अहल्यायें ! भस्मी के अम्बार पर प्रेतावस्था में प्रायश्चित करती, राख पर सोती अहल्यायें । इन्द्रियों के द्वार ! भौतिकता के वासनामय बाजारों में सजी अहल्यायें ! इन्द्र की गोद में सोई हुई ! क्या सुन पावेंगी कथा मेरी ? काश ! वह सुन पाती ।

कितनी गहरी नींद है ! हर रोज यह आंखें दिखती हैं एक अर्थी चिता की ओर जाती ! फिर भी बिसर जाता है । इन्द्र की गोद की नींद जो ठहरी !

मन 'इन्द्र' न तो तन का एक रोम बन पाया और न भस्मी के अम्बार से एक समय का भोजन ! गौतम से अभिशप्त । नितान्त नपुंसक ! फिर भी कितना कामान्ध ! कितना मिथ्याभिमान ! हे राम !

शिव धनुष

शरीर और चेहरे की सुन्दरता क्रीम, पाऊडर, लिपिस्टिक, वस्त्राभूषण नहीं हो सकते। मरी हुई वस्तुओं (सौंदर्य प्रसाधनों) से जीवन्त मुखड़े पर मृतक सुन्दरता का क्षणिक भास मात्र मिल जावे परन्तु सुन्दरता तो जीवन्त विषय है। मृत देह कितनी सजायी जावे उसे देखकर सुन्दरता के स्थान पर भय का ही भास होगा। वह सुन्दरता भी कैसी जिसे समय निर्बाध शनैः शनैः मिटाता जावे।

जीव का मेक–अप (सौंदर्य सजा) हैं उसके विचार! क्रोध का विचार आया तो मुख मण्डल की आभा तेजोमय रक्ताभ हो उठी। हिंसा के विचार उठे तो चेहरा वीभत्स हो उठा। भय के विचार ने चेहरे पर पीत (पीला) रंग पोत दिया। जीवन्त मुखड़े का मेक–अप उसके विचार ही हैं। विचारों के ज्ञाता, विजेता एवं धनी ही नित्य सौंदर्य को प्राप्त होते हैं। उनका सौंदर्य अक्षुण हैं। अमिट हैं। उपमातीत है। जानकी के सौंदर्य की उपमा नहीं हो सकती। श्रीराम एवं श्री लक्ष्मण की सुन्दर नयनाभिराम जोड़ी भी कल्पनातीत है।

नगर दुलहिन सा सजा है। नर नारी मुदित मन स्वयंवर की तैयारियों में लीन हैं। श्रीराम एवं श्री लक्ष्मण की नयनाभिराम छवि को देख हठात ठगे से रह जाते हैं। सुकुमारी, महाराज कुमारी, जानकी के रूप की कल्पना को श्रीराम से अनायास ही कल्पनाओं में युगल कर बैठते हैं। कल्पना की अमृतमय मधुरिमा में खो जाते हैं। भगवान श्रीराम के साक्षात् दर्शन जानकी ने उद्यान में पाये हैं। नित्य जीवन्त स्वरूप, नित्य सधवा प्रकृति के, जीवन्त उद्यान में ही तो मिलेंगे। प्रथम दृश्य जीवन्त हो स्थिर हो गया है। अंतर हृदय में नये अंकुर फूटे हैं। एक मधुर झंकार सी, प्रत्येक क्षण को झंकृत करने लगी है। सम्पूर्ण दृश्य मात्र यौवन, सौन्दर्य और मादकता से परिपूर्ण हो उठा है। जड़ चेतन सभी में एक विलक्षण सुन्दरता उभर आयी है। अथवा जानकी का सुखद भ्रम है।

धनुष बीच में रखा हुआ है। दूर-दूर से राजा, महाराज कुमार सभी पदासीन हैं। विश्वामित्र के पास सुन्दर राजकुमार श्रीरामचन्द्र एवं लक्ष्मण जी बैठे हुए हैं। असुर राज बाणासुर एवं दशानन रावण स्वयंवर से उठकर चले गये हैं। असुर होने के कारण स्वयंवर उनके लिये अपेक्षित है। महाराज जनक ने अपनी शर्त सुना दी है। प्रत्येक राजा एवं राजकुमार बारी-बारी से धनुष उठाने जाते हैं परन्तु उठाना तो

दूर, उसे हिला भी नहीं पाते हैं। सभी शूरवीर सिर झुकाये अपने आसन पर बैठ जाते हैं। महाराज जनक उद्विग्न हो उठते हैं। वे अपमान जनक शब्दों से अपने अन्तर की व्यथा कहते हैं। श्री लक्ष्मण जी को सहन नहीं होता। श्रीराम शांत एवं गम्भीर रहते हैं। परन्तु लक्ष्मण जी वाचाल हो उठते हैं। तब उचित समय जानकर श्री विश्वामित्र जी भगवान श्रीराम को धनुष उठाने का आदेश करते हैं। राघवेन्द्र क्षण मात्र में धनुष उठा लेते हैं, जो उनके हाथ में भयंकर आवाज करता हुआ दो टुकड़े हो जाता है। जयमाला लिये जानकी आगे बढ़ती हैं।

धनुष शिव का है। शिव हैं प्रलय के देवता। जीव को प्रलय के द्वारा आवागमन में निरन्तर नचाने वाले! आवागमन का नृत्य ही ताण्डव है। धनुष मृत्यु की सीमा है। प्रलयंकर शिव के हाथ में मृत्यु रूपी प्रलय है। धनुष को भंग करने का अर्थ है आवागमन की सीमाओं और मर्यादाओं को तोड़ नित्य अर्थात् अमर हो जाना। जनक कहते हैं उत्पत्ति को करने वाले अर्थात् ब्रम्हाजी को ब्रम्हा की उत्पत्ति को श्रीराम अर्थात् महाविष्णु जब तक अमरता प्रदान न करें तो वरण कैसे होगा? जब तक मौत द्वार खटखटा रही है जयमाल तो मृत्यु के ही गले में पड़ेगी। उससे पूर्व के सारे जयमाल, वरण, मिलन मृत्यु द्वारा विछोह में ही तो बदल जावेंगे। जो मिलेंगे आज, वह कल मृत्यु द्वारा फिर अलग कर दिये जावेंगे। जिसने शिव के धनुष को अर्थात् प्रलयंकर की प्रलय रूपी मृत्यु को जीत लिया। जो अजरता और अमरता को प्राप्त हो गया वहीं जयमाल का अधिकारी है। उसी का मिलन सच्चा एवं अन्तिम है।

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत। दधाना इन्द्र इद्दुवः॥ १.४.५.

वेद में तपस्वी परमेश्वर से; देह में जीव आत्मा से; विवाह में पत्नी पति से तथा स्वयंवर में जानकी श्रीराम से कह रही हैं कि "हे ईश्वर! मैं संशय, बनावट, सदेह सबको मिटाकर तुममें एकी भाव में स्थित हूँ। इसलिए; जैसे ज्वाला समिधा (लकड़ियाँ) को धारण करती है उसी प्रकार मुझ जीव को आत्मा होकर; भक्त को भगवान होकर धारण करो। जैसे समिधा अग्नि में जाकर स्वयं अग्नि हो जाती है। अपने स्वरूप को मिटाकर लपट हो जाती; ऐसा ही मेरा आपसे मिलन हो। ऐसे

मिलें कि रूप खो जायें। दो न रहें; बस एक हो जायं। फिर कभी--कभी जुदा न किये जा सकें ! प्रलय (शिव के धनुष) के अवरोध मिटा दें !"

तभी आते हैं परशुराम! शिव भक्त ! जिन्होंने इक्कीस बार धरती क्षत्रियों से विहीन कर दी। शिव का धनुष टूटा देखते ही तो विकराल हो उठते हैं। जनक समेत सारे क्षत्रिय राजा थर-थर काँपने लगते हैं। एक श्री लक्ष्मण जी हैं कि उन्हें आड़ें हाथों ले लेते हैं। तीक्ष्ण व्यंग एवं चुभने वाले तथा उपहासात्मक शब्दों से उन्हें कचोटते हैं। श्री राम चन्द्र अपनी विनम्र वाणी से महामुनि के क्रोध को शान्त करते हैं तथा उनके द्वारा दिये गये धनुष का संधान (चिल्ला चढ़ाना) कर उन्हें आश्वस्त करते हैं कि श्री राम वस्तुतः वहीं हैं जिनकी प्रतीक्षा परशुराम जी कर रहे हैं। अर्थात श्री राम ही महाविष्णु का लीलावतार हैं। श्री परशुराम उन्हें प्रणाम कर सदा के लिये महेंद्र पर्वत पर चले जाते हैं।

परशुराम हैं प्रत्येक युग की पराशक्ति इसलिए अमर हैं। क्षत्रिय कहते हैं गृहस्थ को ! जब भी गृहस्थ अपने जीवन के प्रकृति प्रदत्त उद्देश्यों को खो बैठता है। महेंद्र अर्थात् (महा+इन्द्र) महान आत्म ज्वालाओं में व्याप्त पराशक्ति परशुराम जी, जो कि आत्मा में व्याप्त हैं उसका संहार कर देते हैं। सावधान ! महेंद्र पर्वत आत्माग्नि हैं। जहां अमर होकर परशुराम तपस्या में लीन हैं। धर्म विमुख क्षत्रिय (गृहस्थ) का काल है वे ! कहीं उन्हें कुपित न कर बैठना ! श्री राम को जीवन का प्रत्येक क्षण समर्पित करो।

सुर और असुर की चर्चा हम निरंतर सुनते चले आ रहे हैं। रावण असुर राज है, परन्तु उनके सौतेले भाई कुबेर सुर कहाते हैं। यक्षराज कुबेर की पूजा देवताओं में होती है। विभीषण, जो रावण के छोटे सगे भाई हैं उनकी आस्था भी असुर विचारधारा में नहीं है। गम्भीर अतीत के अंतरालों में चलें, तो सम्भवतः इस रहस्य का पर्दा खुले। श्री राघवेन्द्र लीला से पूर्व......बहुत पूर्व।

एक ही गुरू के दो शिष्य; जो सगे भाई भी हैं, वितस्वा नदी के किनारे पर, सघन रमणीय तट पर चर्चा निमग्न हैं। वे तापस वेश धारी हैं। एक का मुखमण्डल क्रोध और आवेश से रक्ताभ हो रहा है, तो दूसरा स्थिर, गम्भीर शाँत है।

"देखा मित्र ! आवेश से चर्चा का महत्व ही नष्ट हो जावेगा। आवेश और क्रोध मनुष्य के विवेक को नष्ट कर देते हैं। हम सत्य और धर्म की चर्चा कर रहे हैं। पूर्ण हममें कोई भी नहीं है। गुरू के आदेश पर हम दोनों संसार को सत्य एवं उचित धर्म का ज्ञान कराने हेतु चले हैं......।"

"परन्तु मैं उस किसी भी थोपे हुये सत्य अथवा धर्म को नहीं स्वीकारता जो मेरी कसौटी पर खरा नहीं है, जिसे मेरा अंतर्मन नहीं स्वीकारता, उसे मैं दूसरों को मनवाने में असमर्थ हूँ।"

"यदि ऐसा ही था तो तुम्हें अपने संदेहों का निवारण वहीं कर लेना था। अपने विचारों को श्री गुरूदेव के सम्मुख रखते......" शाँत मुद्रा ने कहा।

"ऐसा करना उनका अनादर करना होता ! मैं उनसे कहीं पर भी सहमत नहीं था। तुम चाहों तो मेरे संदेहों का निराकरण कर दो। अन्यथा विचार अपने-अपने, राह अपनी-अपनी" "पूछो ! तुम क्या निराकरण चाहते हो ?"
ईश्वर का लिखा ग्रंथ, कौन सा है ? ऐसा ग्रंथ, जिसे परमेश्वर स्वयं लिख रहे हों। परमेश्वर द्वारा लिखवाये ग्रंथ अथवा श्रुति में मेरी आस्था नहीं है। सम्भव है सुनने और समझने में गलती हो गई हो ? सम्भव है समय के लम्बे अन्तरालों ने शब्द बदले हों, शब्दों के अर्थ और भाव बदले हों ? सम्भव है समय ने भाषाओं को बदला हो और क्या जाने भाष्य ही बदल गये हों ? सन्दर्भों के बदलने के साथ क्षितिज भी बदल गयी हो ? मुझे वही ग्रंथ बताओ जिसे परमेश्वर स्वयं लिख रहा है ?" आवेशमय तापस ने कहा।

"प्रकृति ! प्रकृति ही मूल ग्रंथ है। तुम्हारे संदेह उचित हैं मित्र! इसीलिए श्रुतियों ने भी प्रकृति को ही मूल ग्रंथ माना है।

"पश्य देवस्य काव्यं ! न ममार न जीर्यते ! '

देखो, परमेश्वर के इस मधुर काव्य को, प्रकृति को ! जो न कभी मरती है और न ही जीर्णता को प्राप्त होती है। ये सचराचर, स्वयं में, एक अद्भुत अलौकिक ग्रंथ है जिसे स्वयं परमेश्वर निरंतर अपनी इच्छा से प्रकट करता है। प्रत्येक पशु, पक्षी, मनुष्य, पेड़ जीवधारी ही तो इस ग्रंथ के अक्षर हैं। सांस से, धड़कन से वही तो है जो लिख रहा इस ग्रंथ को !...

"ठहरो ! तुमने कहा कि प्रकृति ही मूल ग्रंथ है। हम इसी को अपने तर्क और प्रमाण की कसौटी मानेंगे। तुम मुझे श्रुत और स्मृत की दुहाई देकर मुझपर स्वयं को मढ़ने का प्रयास नहीं करोगे ?

"स्वीकार है मित्र ! तुम व्यर्थ सशंकित हो। श्रुति स्मृति, वेदादिक, सभी ने तर्क की कसौटी प्रकृति को ही माना है। पूछो ?"

"परमेश्वर जो सबको बनाने वाला है वह कहाँ पर है ?"

"सृष्टी है जहां ! सृष्टा है वहां ! हर घट में हो रही निरंतर उत्पत्ति ही उसकी उपस्थिति का सबल प्रमाण है। परमेश्वर घट-घट वासी हैं।"

"परमेश्वर ! सृष्टा तो एक है। फिर वह घट-घट वासी कैसे हो गये ?"

जो परम शक्ति है ! जो सगुण और निगुर्ण को प्रकट करने वाले हैं ! जो सृष्टि द्वारा ही प्रतिबिम्बित एवं प्रतिध्वनित होते हैं। उनके एक होकर अनेक होने की सामर्थ्य में सन्देह कैसा? सचराचर को प्रकट करने वाले असीम की सीमायें कैसी? एक देहधारी के लिए देह ही सीमा है। परन्तु सर्व अन्तर्यामी, सर्व समर्थ को सीमित करना और एक स्थान पर ही सीमित करना कैसा ?.. तुम्हारी मान्यता क्या है मित्र ?"

"मेरी मान्यता है कि परमेश्वर सप्त लोक में वास करते हैं ! वे घट-घट वासी कदापि नहीं हो सकते।..."

"क्यों नहीं हो सकते ? किसने सीमित किया असीम को ?" मुस्करा कर पूछा तापस शाँत वेश ने।

"वे घट–घट में वास करते हैं ऐसा तुम प्रकृति से किस प्रकार सिद्ध करते हो? क्या मूर्तिकार के लिये जरूरी है कि वह मूर्ति में प्रवेश करे ?"

"हर घट उत्पत्ति को प्राप्त है। मूर्ति को मूर्तिकार बनाता है यह सत्य है। यह भी तो सत्य है कि मूर्ति पुनः मूर्ति प्रकट नहीं करती। क्यों ? क्योंकि मूर्तिकार मूर्ति में नहीं है और मूर्तिकार ही मूर्ति बनाता है। इसलिए मूर्ति पुनः मूर्ति में नहीं पैदा कर सकती ! परन्तु इसके ठीक विपरीत, माता–पिता पुनः पुनः बालक उत्पन्न

करते हैं। बूढ़े शरीर के तन की राख, पानी का संग करती पेड़ों की जड़ों द्वारा ग्रहण की जाती हैं। बूढ़े तन की मिट्टी पुनः फलों में लहलहाने लगती है। वे फल ही भोजन के रूप में नाना जीवधारियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। भोजन ही पुनः गर्भ में बालक की देह का रूप धारण करता है। मिट्टी बनी फल और फलों ने पुनः नाना प्रकार की देहों का रूप धारण किया। यही तो हमने श्रुति में पढ़ा था। उसे ही तो अपने चहुँ ओर निरन्तर देख रहे हैं। ये लीला कौन कर रहा है ? कोई भी जीव-धारी (पेड़ों की शरण हुये बिना) मिट्टी अन्न न बना पाया। कोई भी माँ एक समय के भोजन से तन का एक रोम न बना पाई ! फिर भोजन को बालक के रूप में किसने ढ़ाला ? भोजन, बालक कैसे बना ? माँ न जानती है और न ही शिशु का एक छोटा सा अंग ही बना सकती है ! फिर उसे किसने बनाया ? उस एक ने ही तो अनेक होकर हर देह की रक्षा की ! उसे सजाया, सवांरा, संतति एवं ऐश्वर से वरद किया !

"यदि परमेश्वर मात्र सप्त लोक में होते तो सब्जियाँ, फल, बच्चे, जीवधारी सबके सब सप्त लोक से धरा पर निरन्तर टपक रहे होते ! यहां तो कुछ भी उत्पन्न न होता ! प्रकृति ही मूल ग्रन्थ है। खुली आंखों से देखो ! प्रकृति में छिपे उस मोहक पुष्प को देखो, जिसे पाकर यह सद्य सधवा है ! निरन्तर ! चहुँ ओर !"

"यदि ईश्वर घट-घट वासी है तो असत्य, अत्याचार, ईर्ष्या द्वेष घृणा......"

"मित्र ! मैंने कहा; ईश्वर प्रत्येक घट में वास करते हैं। मैंने यह कब कहा कि प्रत्येक घट ईश्वर है ? ईश्वर शब्द का अर्थ क्या है ? ईश्वर की कल्पना क्या है?

ईश्वर शब्द ऐश्वर्य से बना है, जो प्राणी मात्र को ऐश्वर्य दे स्वयं भुलाकर... उसे कहते हैं ईश्वर !

घट-घट वासी आत्मा ने मिट्टी को फलों में लौटाया, परन्तु पेट भरने का, परिवार के भरण-पोषण का सम्मान जीव मात्र को दिया। बना रहे हैं ईश्वर ! सम्मान मिला जीव मात्र को ! इसी प्रकार आत्मा होकर ईश्वर ने शिशु को उत्पन्न किया ! परन्तु माता-पिता कहलाने का सम्मान मिला जीव मात्र को ! जो प्राणी मात्र को ऐश्वर्य दे स्वयं को भुलाकर ! उसे कहते हैं...ईश्वर !

ईश्वर की इस सुन्दर, सुखद, वरद कल्पना को लेकर मनुष्य मात्र के पास जाने का हमारा मूल उदेश्य है कि धरती का प्रत्येक मनुष्य बने ! प्राणी मात्र को समर्पित होकर ईश्वर की भांति सुखद एवं वरद जीवन्त क्षण प्रदान करें ! ईश्वर की कल्पना से मनुष्य ईश्वर हो और धरा स्वर्ग हो जाये! मानवता ईश्वरत्व की महानतम ऊँचाइयों का स्पर्श करे । सब सुखी हों ! गुरूदेव की इस भावना में तुम्हें सन्देह कैसा ?"

"जीव का धरा पर मनुष्य योनि में जन्म पाने का उद्देश्य क्या है ?"

"परमपिता परमेश्वर ने धरा बनाई ! ग्रह, नक्षत्रों सूर्यो से सचराचर को आलोकित एवं अलंकृत किया । धरती पर नाना वनस्पतियों एवं पशु पक्षियों, जीव-धारियों को प्रकट किया । आत्मा होकर सबको बनाने वाले घट–घट वासी ने मनुष्यों को बनाया और कहा, जिस धरती रूपी बगिया को मैं प्रकट कर रहा हूँ, तू उसका माली हो जा ! मेरे द्वारा प्रकट हो रही प्रकृति रूपी पुस्तक का अच्छे छात्र की तरह पाठन कर ! उत्तीर्ण हो तो देवत्व को प्राप्त कर ।......"

"मैं इससे अविश्वास करता हूँ । मेरे विचार से परमेश्वर ने यह धरती, पेड़ पौधे, पशु पक्षी सब मेरे भोगने के लिये बनायें हैं ! मैं उसका प्यारा बेटा जो हूँ !..."

"और स्त्री ?"

"नारी भी भोग्या है । पुरूष को ही भोगने के सारे अधिकार है ! मेरा सुर (देवता, ईश्वर) सप्त लोक में असुर है ! मैं (अ+सुर) हूँ । मैं स्वतन्त्र हूँ ! स्वछन्द हूँ !! नारी मात्र भोग्या है ! वह मात्र मिट्टी के खेत के समान है । पुरूष को अधिकार है जैसे चाहे जोते । जो चाहे बीजे ! ...."

"मौन हो जाओ !!" शान्त सुर असह वेदना से चीख उठा । सुर और असुर की चर्चायें बहुत लम्बी हैं ! समय–समय पर चर्चा करते चलेंगे जरा लीला मंच की ओर ध्यान दें ! विवाह की तैयारियों का अवलोकन करें !

श्री राम जानकी विवाह

मिथिला दुलहिन सी सजी है। विवाह की अनुपम बेला है। श्री दशरथ जी, वशिष्ठ मुनि, भरत, शत्रुघ्न, मन्त्री गण तथा गणमान्य सभासदों एवं नागरिकों के साथ पधार चुके हैं। हर ओर आनन्द ही आनन्द है। मिथिलेश जनक जी के आनन्द और व्यस्तता का कहना ही क्या। उनके सुख का दूसरा कारण भी है। महाराज दशरथ जी एवं ऋषि, मुनि, तापस पूज्य जनों की स्वीकृति प्राप्त कर उन्होंने एक सहज स्वयंवर की घोषणा भी कर डाली, जिसमें उनकी दूसरी पुत्री उर्मिला जी ने लक्ष्मण जी का वरण किया। कुश ध्वज की बड़ी कन्या अतीव सुन्दरी एवं सुघड़, माण्डवी को श्रीराम की प्रतिमूर्ति सलोने नीलाभ भरतजी भा गये और सुन्दर, लजीली, सुकोमल, श्रुतिकीर्ति, गौरांग शत्रुघ्न को सदा के लिए समर्पित हो गयी। विवाह की चार वेदियां सजी हैं। प्रजाजन सुध-बुध खोये, आनन्द मग्न, सुन्दर एवं सुरूचिपूर्ण ढंग से सजे नृत्य करते हैं। उनके आनन्द की सीमा कहां? असंख्यों युग साक्षी है कि उसकी स्मृति से, लीला का प्रति वर्ष अवलोकन करके युग झूमें हैं। पीढ़ियों को, युगों कों आनन्दित करने वाली लीला का अवलोकन कर सारे दर्शक सुध-बुध खोये झूम रहे हैं। शरीर स्थिर है। स्थिति का भान भी नहीं रहा है। सिर्फ नेत्र ही हैं जो पिये जा रहे हैं। प्रतिक्षण ! रोम-रोम पुलकायमान है।

पुरूष (आत्मा) की लीला स्वयं महा विष्णु, श्री राम चन्द्र की नर लीला में निभा रहे हैं। जानकी, सीता जी (प्रकृति धरती की बेटी जीव) की भूमिका को स्वयं लक्ष्मी जी निभा रही हैं! हे राम !

प्रिय श्रुतिकीर्ति, शत्रुघ्न (विषय-वासना-अज्ञान रूपी शत्रुओं का हनन करने का पुष्ट संकल्प) की पूर्णता का प्रतीक है। श्रुतियों को जीवन में धारण किये बिना, श्रुतियों की कीर्ति को जीवन में धारण किए बिना, शत्रुओं का हनन (उपरोक्त) सम्भव कहाँ ?

जीवन का सत्य संकल्प शत्रुघ्न हो तथा श्रुतिकीर्ति से संयुक्त हो ! जीवन धन्य हो।

फिर (भक्ति में रत) भरत रूपी भक्ति स्थिर होकर जीवन के हर क्षण पर छा जाये तो माण्डवी कहाये ! "नाम खुमारी नलका ; चढ़ी रहे दिन-रात !" एक नशा

हो ! ऐसा नशा ; जो चढ़े तो फिर न उतरे कभी ! तभी तो झूम कर मुस्करायेगे जीवन के क्षण ! श्री भरत, श्रीरामचन्द्र की अक्षरशः प्रतिमूर्ति हैं ! रंग, रूप, अंग, स्वभाव सभी समान हैं ! वह भक्त कैसा जो इष्ट से तद्रुप ध्यानस्थ होता इष्ट के रूप में न ढल पाये। श्री भरत एवं पवित्र माण्डवी युगल, पूर्ण समर्पिता भक्ति हैं, जहां उपासक निज स्वरूप को स्वीकार इष्ट रूप ही हो जाता है। उद्धव ; जो गोपाल हो गया ! (लीला-दर्पण)।

श्री लक्ष्मण (श्रीराम रूपी 'लक्ष्य में' मन ! समाधिस्थ योग) की पूर्णता है– उर्मिला ! 'उर' अर्थात् हृदय में जन अराध्य 'मिला' (उर्मिला) तो प्रलयंकर के आवागमन रूपी धनुष भंग हो गये! जीव का आत्मा से अन्तिम रूप में मिलन हुआ। स्वयंवर सफल हो गया !

श्रीराम कथा में वनवास के समय श्री जानकी जी श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन गमन करती हैं। साथ में श्री लक्ष्मण जी भी जाते हैं परन्तु सती, साध्वी, श्री लक्ष्मण प्रिया उर्मिला जी देह से अयोध्या में वास करती हैं परन्तु उनका 'उर' (हृदय) प्रतिक्षण अपने पति श्री लक्ष्मण जी से 'मिला' ही रहता है। योग की पराकाष्ठा है !

विवाह का निर्वाह करता रहे शतानन्द जी। शत-शत आनन्द न हो तो विवाह कैसा ?

विवाह ! सुर विचारधारा में एक पवित्र यज्ञ है ! प्रकृति और पुरुष की सचराचर लीला का पूर्वाभ्यास है ! असुर विचारधारा में नारी को भोग्या के रूप में खरीदना अथवा बांधना मात्र हैं। सौदे की कीमत तय है परन्तु देनी है।·· ···

विवाह मण्डप पर, यज्ञ की ज्वालाओं के सम्मुख वर एवं वधू सुशोभित हैं। ऋग्वेद के आरम्भ में मधुच्छन्दा ऋषि ने चतुर्थ सूक्त में अद्भुत रूप से विवाह को ऋचाओं में गाया है ! रोमांच हो उठता है ! भाव स्पष्ट करते हैं :–

वर कह रहा है वधू से :– "सुनो ! न तो तुम पत्नी हो और न ही मैं पति ! क्यों ? उत्पत्ति का कारण तुम भी नहीं जानती ! मैं भी नहीं जानता ! आत्मा ही सत्य रूप से पति है और प्रकृति रूपी जीव ही पत्नी ! आत्मा ही सचराचर में, घट-घट में, उत्पत्ति का कर्ता है। आओ ! पुरुष और प्रकृति की सचराचर लीला का

पूर्वाभ्यास हेतु वरण करें ! तुम जीव रूप पत्नी बनो ; मैं आत्मा रूपी पति कहाऊँ ! सप्त फेरे लें यज्ञ की ज्वालाओं के ! सप्त वासनाओं ; सप्त विषयाग्नियों से हो उपराम-अष्टम् अग्नि ; आत्मा रूपी ज्वाला, का वरण करने का संकल्प लें !

जिस प्रकार जीव आत्मा को समर्पित होता है उसी प्रकार तुम मुझे समर्पण दो। तुम्हारे जीवन रूपी संग्राम का पूर्ण दायित्व मुझ पर हो ! तुम्हारे लिए भी युद्ध का भार भी मुझ पर हो ! तुम्हारा गाण्डीव (यज्ञोपवीत) भी मेरे कन्धों की शोभा हो ! मेरे ऐश्वर्य (आभूषण, सन्तान, मकान, सम्मान, तप, साधना) की तुम स्वामिनी बनों ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ ! मायाओं के महासमर में ; जीवन रूपी संग्राम में भौतिकताओं के भ्रमजाल में, तुम्हें सदा बायें रखूंगा। क्यों ? दाहिने हाथ से युद्ध जो करूँगा ! जीवन के संग्राम में तुम सदा बायें रहोगी। मैं तुम्हारी ढाल बनूँगा। परन्तु उपलब्धि के क्षणों में, पूजा में, यज्ञ में, ईश्वर प्राप्ति में, तुम सदा मेरे दाहिने रहोगी! क्यों ? उपलब्धि पर पहला अधिकार तुम्हारा होगा ! तुम्हारे द्वारा ही मुझे प्राप्त होगा।

यह तो सत्य रूपी विवाह का पूर्वाभ्यास है। विवाह तो तब होगा ; जब आत्म ज्वालाओं के सम्मुख, जीव रूपी पत्नी का वरण, अर्न्तमुखी हो, आत्मा रूपी पुरूष के साथ, अन्तिम अद्वैत के रूप में होगा ! जिस प्रकार समिधा ज्वाला में जाकर अपने स्वरूप को खो बैठती है ! ज्वाला ही हो जाती है ! ऐसा ही जीव और आत्मा का मिलन ही सत्य रूपी विवाह की कल्पना हमारी है !

यदि नाटक का पूर्वाभ्यास (वाह्य जगत में, यज्ञ के सम्मुख हो रहा यह विवाह) धर्म पूर्वक; शास्त्र पूर्वक तथा मर्यादित एवं समर्पित न हुआ तो अन्तर के मंच पर हमें आने ही कौन देगा ? जिसने नाटक का पूर्वाभ्यास ही ठीक न किया उसे निर्देशक मंच पर आने कहां देगा ? वाह्य जगत, लोक व्यवहार; सब कुछ; मात्र नाटक का पूर्वाभ्यास है ! अन्तर के जगत में नाटक मंच सजा है ! वर रूप में आत्मा श्रीराम, घट-घट वासी, सजे हैं ! वही हमारा गन्तव्य है ! जीवन का मात्र लक्ष्य है ! ......

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व ! विश्व की महानतम संस्कृति; जिसने सबको, जीव मात्र को, सुखद जीवन प्रदान करना और जीव मात्र की स्वतन्त्रता को सम्मान देना अपना धर्म माना था; एक बर्बर हिंसक ज़ाति द्वारा नष्ट होकर, गुलाम हो गयी ! स्वयंवर का स्थान बाल–विवाह ले बैठे ! लड़कियां जबरन उठाई जाने लगी थीं !

नारायण हरि !

जनक का दहेज

"दाहज !"

"ज" माने उत्पत्ति; जन्म ! "दाह" अर्थात् चिता की लकड़ियों तक ! कन्या के जन्म से मृत्यु पर्यन्त में उसके ऋण से मुक्त होता हूँ। मिथिलेश "दाहज" ("दहेज" कालान्तर में) में अपनी प्राण से अधिक प्रिय बेटियों को सब कुछ देना चाहते हैं। देकर भी आश्वस्त नहीं होते हैं ! पुनः-पुनः हाथी, घोड़े, रत्नादिक मंगाकर रखते जाते हैं। महाराज दशरथ उन्हें बारम्बार मना करते हैं। मिथिलेश से ऐसा कुछ न करने की प्रार्थना करते हैं, परन्तु पिता हृदय है कि तृप्त ही नहीं होता ! महारानी सुनयना अपनी बिछुड़ती बेटियों के लिये क्या न कर दें। अश्रुपूरित नेत्रों से भण्डार ग्रहों में, महलों में, सभी जगह घूम-घूम कर देखती हैं ! जो अच्छा लगता है उसे तुरन्त बेटियों के साथ अयोध्या भिजवाने का आदेश करती हैं। मिथिला में कौन ऐसा है, जो प्रिय जानकी, उर्मिला, माण्डवी, श्रुतिकीर्ति से बिछुड़ना चाहता है ! अनुवर और सहचारी सेविकायें महारानी जो से रो-रोकर दाहज में सम्मिलित होने की प्रार्थना करती हैं ! विदाई के क्षण समीप आते जा रहे हैं ! राज परिवार तो क्या प्रजाजनों के भी मुख मण्डल कुम्हलाने लगे हैं ! नेत्र बरस रहे हैं ! हिचकियों की आवाज बढ़ती जा रही है ! विदाई के साज बज उठे हैं। महारानी, महाराज मिथिलेश धैर्य खो बैठे हैं ! विदाई के क्षण दर्शक हृदयों और नेत्रों को छू गये हैं ! पिघला रही हैं आखें ! साँसे गहराने लगी हैं !

"दाहज" अथवा कहे "दहेज" ! आज समाज का अभिशाप बन चुका है ! जलती बहुयें ! बेटी की जली लाश पर तड़पती बद हवास माँ ! क्या इसी दिन के लिये जन्म दिया था ? क्या इस अभागी मौत के लिये पाल-पोसकर बड़ा किया और सजा सवांर कर; स्वयं को सभी तरह से निचोड़ कर, उस भोली कन्या के हाथ पोले किये थे ?

दहेज (दाहज) की परम्परा आदि प्राचीन है। केवल भारतीय सनातन संस्कृति में ही नहीं, विश्व के अन्य धर्मों और प्रदेशों में भी प्रचलित रही है। बहुत से मुस्लिम सम्प्रदायों तथा देशों में इसका प्रचलन कहीं-कहीं पर देखा जाता है ! वहाँ इसका नाम अलग-अलग है ! वर पक्ष की "मेहर" (मेहरबानी शब्द से) तो कन्या पक्ष ने अपनी बेटी को दिया "दाज" ! "दाज" शब्द का अर्थ है "घटाटोप अन्धकार" !

दस गज कपड़ा कफन के लिए ! जिन्दगी की रोशनी से कब्र के घटाटोप अन्धकार तक! बेटी ! हम कर्ज उतार चले !

अनन्त काल से चली आ रही इन परम्पराओं ने अतीत में बहुयें न जलाई ! आज भी भारतीय ग्रामीण अंचलों में, जहां शिक्षा कम है अथवा उसका अभाव है, बहुयें नहीं जलाई जाती ! जहां शिक्षा का विस्तार है। जहाँ काले धन से जिन्दगी के क्षण काले हो रहे है ! वहीं वे कलुषित हाथ जला रहे, बहुओं को ! क्या ऐसा नहीं है ? बहुयें जल रहीं, परम्पराओं से अथवा पथ भ्रष्ट, उद्देश्य हीन शिक्षा से ?

ऐसी शिक्षा जिसका मूल भूत उद्देश्य एक ही है, 'अच्छी नौकरी, मोटी तनखा और खूब मोटी घूस ! प्राइमरी क्लास के अध्यापक से विश्व विद्यालय के कुलपति तक ; माता-पिता से स्वजन सास-ससुर तक, हर आँख यही तो देखना चाहती है ! क्या ? एक परिवार के सीमित हित साधन हेतु में बड़ा राष्ट्रद्रोही, समाज द्रोही, सन्ततिद्रोही अभिशप्त भ्रष्ट दशानन बनूं ! सोने की लंका बनाऊँ तो वे सब नेत्र सुखी हों ! दोष परम्परा का है अथवा आधुनिक राष्ट्रान्धता का ? दिशा विहीन अभिशप्त शिक्षा का ?

दहेज (दाहज) समाजवाद की सबसे अनुपम, सुन्दर और अति मानवीय परम्परा रही है। गांव में शहनाई गूंज उठी। अल्हड़ युवती बन्धने चली! विवाह की मधुर वेला है। विवाह तो शतानन्द (श्रीराम-विवाह) ही के द्वारा होगा ! शत-शत आनन्द न हुए तो विवाह कैसा ? गांव के नर नारी एकत्र होने लगे हैं ! वर पक्ष और वधू पक्ष दोनों के द्वारा भीड़ लगी है !

गांव के लोगों ने वर पक्ष और वधू पक्ष को बता दिया है, कि दो परिवार मिलकर वर-वधू को जीवन में स्थापित नहीं कर सकते। समाज उन्हें ऐसा कभी न करने देगा ! क्यों ? उन्होंने जानना चाहा ! दो परिवार वर-वधू को जीवन में स्थापित क्यों नहीं कर सकते ?

इसलिये ! कि दो परिवार यदि वर-वधू को उनके जीवन में स्थापित करेंगे, तो उनके दायित्व मात्र दो परिवारों तक सीमित रह जावेंगे ! इससे समाज का विखण्डन होने लगेगा ! सारा समाज मिलकर वर-वधू को स्थापित करेगा; जिससे वे

समाज के प्रति सदा उत्तरदायी रहें ! दो परिवारों का मात्र आनन्द न हों, शतानन्द हो !

चार भाई झोपड़ी बना रहे हैं! वधू पक्ष ने बैल दिये तो वर पक्ष ने बैलगाड़ी! सारे समाज ने मिलकर वस्तुयें, सामिग्री एवं धन दिया। शत–शत हाथ लगे और सबके प्रेम में सींचा हुआ, सबकी सद्भावनाओं से वरद, नया नीड़ बन गया। मन में उमंगों के सागर लहराते, आंखों में भविष्य के सुन्दर स्वप्न संजोये, सबके चहेते, वे दो पंक्षी नीड़ में स्थापित हो गये ! गांव के मुखिया, प्रधान, महन्त अथवा राजा; जो भी परम्परा रही हो, उनको प्रणाम करने, सारे समाज के साथ वे चल दिये !

कन्या तो लक्ष्मी है ! पूज्यनीय है ! ऐसा जानकर ग्राम के मुखिया (महन्त अथवा राजा) ने कन्या के चरण धोये ! नव–वधू की आरती की ! नव दम्पत्ति ने भी ग्रामाधीश का उचित मान किया और ग्रामाधीश ने दस बीघा जमीन का पट्टा लिखकर उन्हें जीवन का सुखद वरदान दिया ! माला के मोतियों सा सारा समाज गुन्धता चला गया।

रथों, अश्वारोहियों, गज समूहों ने आगे बढ़ना प्रारम्भ कर दिया है ! विदाई के वाद्य, संगीत और आंसुओं में भीगे गीत ! हर नेत्र बरस रहा है ! हर सांस भारी हो उठी है ! कौन ! किसको ढांढस बंधावे ? किसमें सुधि शेष है ?

बिलखती बहुयें, चल दी ! नई दिशा !! नया मोड़ !! रे अतीत !! तू विसर जा ! फिर न उभरना कभी सुधि में हमारी !! अचेत होती चेतना। मस्तिष्क के अन्धेरे महलों में चमकते, हर ओर–शून्य !! स्मृतियां। स्मृतियों से उभरते वे वात्सल्य भरे मोहक मुखड़े। सिर्फ–शून्य !! गहराते अन्धेरों में, शिथिल शरीर, गूँजते वाद्य गन्तव्य की ओर बढ़ते समूह। ढलती सांझ !! खोजती–एक सुबह नई। जाने कैसी ?

नारायण हरि

श्रीराम के राजतिलक की तैयारी !

अवधेश दशरथ के असीम सुख के क्षण हैं। अवध कहते हैं उसको, जिसको कोई वध (अ+वध=अवध) न कर सके। देवलोक को भी लज्जित करने वाली अयोध्या सुख के सागर में मस्त गोते लगा रही है। श्रीराम विवाह के उपरान्त बारह वर्ष बीतने को हैं। (श्री वाल्मीकि रामायण में विवाहोपरान्त बारह वर्ष तक दशरथ ने राज्य किया। अन्य कथाकार स्पष्ट नहीं हैं।)

महाराज दशरथ जी अपने पूज्य गुरू वशिष्ठ जी से कहते हैं कि गुरूदेव सुख के क्षण फिसलते देर नहीं लगती। परन्तु जिसने काल की पुकार न सुनी तथा उसके समान्तर अथवा काल के पूर्व होकर न चला ; वह भला कालातीत नित्य स्वरूप में महाप्रलय क्या पायेगा ? मेरा समय वानाप्रस्थ धर्म को प्राप्त होने का है। श्री राघवेन्द्र रामचन्द्र ने विवाह का बारह वर्ष का सुखोपभोग कर लिया है। राज्य कार्य में भी पूर्ण दक्षता को प्राप्त हैं। यदि आप आज्ञा करें तथा उचित मुहूर्त बतावें तो श्री रामचन्द्र का राज्याभिषेक हो तथा मैं वन में तपस्या हेतु गमन करूँ। महाराज दशरथ के सुन्दर विचारों का गुरू वशिष्ठ अनुमोद करते हैं तथा तिथि की घोषणा करते हैं। अयोध्या झूम उठती है। नागरिक आनन्द से झूम उठते हैं ! घर, गली, बाजार, नगर सजने लगते हैं।

मन्थरा ! रानी कैकई की मुंह लगी दासी। कैकई महाराज दशरथ की सबसे प्रिय, सुन्दरी छोटी रानी है। श्री भरत की जननी। मन्थरा अपनी प्यारी छोटी रानी कैकई को समर्पित है। कैकई ही उसका सारा संसार है। कैकई से हटकर उसके पास यदि कुछ है तो कैकई नन्दन श्री भरत ही हैं। बस इतना ही मन्थरा का संसार है। जिस समय महाराज दशरथ कैकई को विवाह कर विदा हो रहे थे तो मन्थरा विलख कर रो उठी। जिद्द करके दाहज (दहेज) में अपनी प्यारी कैकई के साथ अयोध्या आ गई। उसकी अराध्य, इष्ट सब कुछ मात्र कैकई ही रही हैं। इस समर्पिता भक्ति में कभी भी विरोधाभास नहीं आया। मन्थरा ने सुना तो कांप उठी। उसे लगा उसकी प्यारी कैकई के भविष्य पर भयंकर वज्रपात हो गया है। उसका ऐसा सोचने के बहुत से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कारण हैं।

महाराज दशरथ अपनी सबसे छोटी रानी कैकेई को सबसे ज्यादा प्यार करते रहे हैं। सुमित्रा, भले ही लापरवाह है, परन्तु पटरानी होकर कौशल्या जी को यह उपेक्षा कैसे खटकी न होगी ? क्या अब वह गिन–गिन कर बदला न लेगी ? अब वह राज माता होंगी। श्री रामचन्द्र महाराजा होंगे। दशरथ के बिना कैकेई की स्थिति मात्र एक दासी जैसी हो जावेगी। यदि श्री रामचन्द्र ने उचित सम्मान न दिया तो ? दशरथ विहीन रानी कैकेई क्या उपेक्षित व्यवहार को सहन कर पावेगी ? श्री भरत और श्रीराम में अन्तर ही कहां हैं। दोनो रंग, रूप, नख, शिख से तथा व्यवहार और बुद्धि, कौशल योग्यता सब में तो समान हैं। फिर दशरथ जी अपनी प्यारी रानी से प्यार का मात्र ढोंग ही कर रहे थे ? स्वयं तो राज पाट छोड़कर विरक्त हो वन जा रहे हैं, परन्तु कैकई का जरा भी ध्यान है इनको ? हा ! कैकेई अब तेरा क्या होगा ? मन्थरा फफक कर रो उठी। वह ऐसा कदापि न होने देगी। उसने स्वयं से कहा। उसकी मुठ्ठियां भिच गई। मस्तिष्क तेजी से दौड़ने लगा। उसके चेहरे पर कुटिल मुस्कान थिरक उठी। कैकेई से मिलने उसकी मुंह लगी कुबड़ी दासी मन्थरा चल दी।

कैकेई से उसने नाटक रचना शुरू किया। कैकेई ने उसे डांटा, फटकारा; परन्तु धीरे-धीरे कैकेई पर मन्थरा का जादू चलता गया। भविष्य की आशंका, मिथ्याभिमान, हठ, प्रतिकार, अधिकार आदि विचार प्रबल होते चले गये।

कैकई के मस्तिष्क एवं हृदय में भयंकर तूफान प्रचण्ड होने लगा। ऐसा तूफान जो अपने पैरों से सारी अयोध्या को; प्रत्येक व्यक्ति को, भीतर–बाहर रौंदने, कुचलने के लिये व्याकुल हो उठा। कैकई कोप भवन को चल दी।

दशरथ जी कैकई पर झुक गये हैं। उनकी प्राण वल्लभा रानी कैकई को सुख के क्षणों में किसने आहत किया है, दशरथ जो मानते हैं। दुख का कारण पूछते हैं। कैकई कुटिलता मलिनता और छल का सहारा लेती है। दो वर मांगने की याद दिलाती है। एक बार महाराज दशरथ जब भयंकर युद्ध में जूझे हुये थे, उनके रथ के पहिये की कील निकल गयी थी। कैकई ने अपने हाथ की उँगली से रथ को साधे रखा। दशरथ ने प्रसन्न होकर दो वर माँगने को कहा। कैकई ने कहा कि उचित समय पर वह दोनों वर मांग लेगी। महाराज दशरथ दोनों वर प्रदान करने के लिये

तिवाचक स्वीकार करते हैं। कैकई दोनों वर मांग लेती है। श्री भरत को राज गद्दी और श्रीराम को वल्कल धारी होकर चौदह वर्ष का वनवास। दशरथ जी मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं। रथ के पहिये की कील को उंगली से सम्भालने वाली ने दशरथ के जीवन रूपी रथ को बीच समरांगण में ध्वस्त कर दिया। नये वसन्त से पूर्व पतझड़ होता है। नई कपोलों से पूर्व पुराने पत्तों को गिरना होता है। टूटे पत्ते से अचेत धराशायी महाराज दशरथ हैं।......

नारायण हरि !

★

वनगमन

नीलमणि सी सुन्दर कान्ति के स्वामी, मनोरम श्रीरामचन्द्र थिर, शान्त, गम्भीर मुद्रा में सिर झुकाये खड़े हैं। महाराज दशरथ की दयनीय अवस्था देखकर व्याकुल हो उठे हैं। कैकेई उन्हें अपने दो वर मांगने की कहानी विस्तार से बताती है। श्रीराम को चौदह वर्ष का वनवास एवं भरत को राजगद्दी। श्रीराम संयत वाणी में माता कैकेई को आश्वस्त करते हैं। जाने के लिए मुड़ते ही हैं कि दशरथ जी के धैर्य के बांध टूट जाते हैं; वे विलाप करते श्रीराम से वन को न जाने की प्रार्थना करते हुए कहते हैं :– "हे राम ! मैं वचनबद्ध हूँ। तुम स्वतन्त्र हो। मुझे छल से मारा गया है, तुम विद्रोह कर दो। मुझसे राज छीन लो। तुम नहीं जाओ राम। मैं जी नहीं पाऊँगा। .... "महाराज दशरथ जी फूट–फूट कर रो उठे। मूर्छित हो गये। श्रीराम ने समभाव से पिता एवं माता कैकेई को प्रणाम किया। कैकेई के चेहरे की कुटिल व्यंग्य भरी मुस्कान का भी उन पर प्रभाव न हुआ। दोनों को प्रणाम कर श्रीराम चल दिये। कैकेई बाहर तक उनके पीछे आयी और कहा कि उसने वल्कल वस्त्र मंगवा लिये हैं। श्रीराम को अवश्य पसन्द आवेंगे तथा सजेंगे भी। श्रीराम ने वस्त्र ग्रहण कर लिये। और कौशल्या जी से मिलने चल दिये। रानी सुमित्रा भी वहीं उपस्थित थीं। श्रीराम के हाथ में वल्कल वस्त्र देखकर वह चौंक उठीं। महर्षि बाल्मीकि तथा अधिकतर कथाकारों ने इस प्रसंग को बहुत ही मार्मिक ढंग से कहा है। श्रीरामचन्द्र ने दोनों माताओं को प्रणाम किया तथा सारी घटना कह सुनायी। कौशल्या मूर्छित होकर गिर पड़ीं। सुमित्रा विलख उठीं और कौशल्या जी को होश में लाने का प्रयास करने लगीं। थोड़ी देर के उपरान्त उनकी मूर्छा टूटी। श्री रामचन्द्र ने उन्हें ढाढ़स बंधाया। तभी लक्ष्मण जी भी वहां

आ गये। वे अत्यधिक उत्तेजित हो उठे। श्रीराम चन्द्र ने उन्हें संयत किया। श्री लक्ष्मण शान्त तो हो गए, परन्तु श्रीराम के साथ ही वल्कल धारण कर वन जाने की जिद्द ठान ली। जनक नन्दिनी जानकी जी ने सुना तो वे भी साथ जाने का हट कर बैठी।

"जहां राम तहँ अवध निवासु।"

श्री राम, श्री लक्ष्मण एवं सीताजी के वनगमन की सूचना अयोध्या में बिजली की तरह फैल गयी। जिसने सुना तो वही तड़प उठा। प्रजा जनों के समूह सेनापति, सैनिक सभी विद्रोह की ज्वाला से धधक उठे। श्रीराम से आदेश लेने आ पहुँचे। श्रीराम ने सबको संयत किया। कुल, मर्यादा आदि का भान कराया। तथा महाराज दशरथ के प्रति समर्पित होने की प्रार्थना की। रात इसी में बीत गयी। प्रातःकाल श्री रामचन्द्र, लक्ष्मण जी एवं जानकी जी के साथ आज्ञा लेने कैकेई के महल गये। सुमन्त से रथ लाने की इच्छा की। पिता को सांत्वना देकर माता कैकेई को प्रणाम कर तीनों ने वल्कल धारण किये। अनजानी राहों पर चल दिये। कौशल्या रथ तक पगली सी दौड़ी आयी। जानकी जी को वल्कल में देखकर फफक कर रो उठीं। उन्होंने जानकी से वल्कल उतारने को कहा और अपने पीहर से लाये वस्त्र और आभूषण जानकी को धारण कराये। वह सुबह सांझ से भी कहीं बौझिल और उदास थी। नगरवासी राज परिवार के सदस्य सब लुटे-लुटे से रथ के चारों ओर मंडरा रहे थे। पीड़ा और व्यथा मात्र नेत्रों से ही नहीं, रोम-रोम से रिस रही थी। अवध का वध कर गया कोई ? सजे घर और द्वार अचानक मृत सायों से भयानक लगने लगे। रथ चल दिया। वीरान अयोध्या हुई। लुटी हुई, नगर की प्रजा रथ के पीछे अयोध्या छोड़ चली। सभी नर-नारी, अबाल-वृद्ध रथ के साथ ही जा रहे हैं। उस सूनी अयोध्या में हैं ; स्तब्ध, चेतना खोती महारानी कौशल्या जिसे ढाँढ़स बंधाती अपनी मर्माहत पीड़ाओं को स्वयं भीतर दबाती रानी सुमित्रा। दूसरे महल में अचेत, मूर्छित शनैः-शनैः मृत्यु के पंजों फँसते महाराज दशरथ और भविष्य की सुखद कल्पना में खोयी रानी कैकेई। हां ! एक और भी ! अपनी विजय पर गर्व करती कुबड़ी मन्थरा। नौकर, चाकर, दास, दासियां सहमे सिमटे असहाय, उदास यहां वहां निढाल से बैठे हैं। बैठे हैं, सांस ले रहे हैं इसलिए प्राणवान हैं अन्यथा नितान्त प्राणहीन। उनके प्राण तो राघवेन्द्र के साथ वनगमन कर गये हैं।

रात्रि शयन के उपरान्त श्रीराम चन्द्र ने समझा-बुझा कर नगर वासियों को विदा किया है। पुनः नदी पार करने से पूर्व सुमन्त को विदा किया। केवट लीला अति मधुर है। श्रीराम चन्द्र केवट को तथा निषाद राज को अपने सीने से लगाते हैं। भेदभाव के असत्य को जन मानस से मिटाते हैं।

सुमन्त ने लौटकर महाराज दशरथ को (जो अब कौशल्या जी के महल में हैं) श्रीराम के न लौटने तथा चौदह वर्ष का वनवास पूरा करने के संकल्प को बताया। दशरथ जी सहन नहीं कर पाते हैं। हा! राम! हा! राम!! कहते वह देह त्याग करते हैं। श्रवणकुमार के अन्ध माता-पिता की वाणी सत्य होती है। अयोध्या एक बार फिर शोक सन्तप्त होती है।

"मा निषाद प्रतिष्ठां।.........

नारायण हरि!

दशरथ की मृत्यु

परिचारिका कैकेई के सन्मुख नतमस्तक खड़ी है। उसने रानी कैकेई को राजमाता कहकर सम्बोधित किया है। तथा राजमाता कौशल्या के यहाँ पधारने की विनती की है।

"राजमाता" ?

कैकेई पर मानो भयंकर वज्रपात हुआ है। भरत के राज्याभिषेक से पूर्व ही वह रानी से राजमाता कैसे हो गयी ? कहीं-कहीं महाराज दशरथ तो......

"ओह नहीं" कैकेई अनायास फुसफुसा उठी। उसे लगा, तेज कौंधती बिजलियों की तीव्र चमक फिर उभरते शून्य ! दासी ने संभाल कर पलंग पर लिटा दिया। अन्यथा नंगे फर्श पर मूर्छित होकर बिखर गयी होती। महाराज दशरथ के पार्थिव तन पर के शृंगार उतार कर दान करेगी और सुहाग फोड़ना होगा। शृंगार विहीन, नष्ट सुहाग, एक अकिंचन साधिका, बस यही सब कुछ शेष तेरा जीवन होगा। रानी से राजमाता जो हो गयी कैकेई ?

आदिकाल से चली आ रही यह महान परम्परायें। उत्पन्न हुए तो बारह जन्मों की शूद्रता का प्रतीक, बारह दिन का सूतक मनाया गया। मृत्यु का वरण किया तो परम्पराओं ने कहा! बारह जन्मों की शूद्रता के जन्म कालिक बारह दिन के सूतक में

इस जन्म का प्रतीक एक दिन और जोड़ दो। बारहीं, तेरहवीं हो गयी जन्म काल की शृंखला में एक दिन जुड़ गया। जन्म का शूद्र अन्तकाल में महाशूद्र कहाया। तेरहवीं पर्यन्त छूत वास करेगी। इसका रहस्य क्या है ?

वेद की महान संस्कृति ने प्रकृति को ईश्वर द्वारा लिखा ग्रंथ माना। आदि कथाओं में यह संशय समय-समय पर प्रकट होते रहे, जिनके समाधान अनन्त काल से ऋषि-मनीषी सद्ग्रंथों में तथा दन्त कथाओं में देते रहे हैं। कल की कथाओं को आज के परिवेश में :-

एक शिष्य में मन संदेह उपजे। बहुत से सम्प्रदाय हैं, प्रत्येक सम्प्रदाय अपने अराध्य परमेश्वर का नाम हमें बताता है। प्रत्येक सम्प्रदाय एक अथवा अनेक ग्रन्थ भी हमारे सामने रखता है। और कहता है कि इन्हें ईश्वर ने लिखवाया है। हम नहीं समझ पाते हैं कि सम्प्रदाय जहां अपने परमेश्वर अलग बतलाते हैं वहां भी यह कहते हैं कि परमेश्वर एक है।

जब परमेश्वर एक ही है। तो इतने सारे सम्प्रदाय क्यों? इतने सारे लिखवाये गये ग्रन्थ क्यों ? क्या कोई ग्रन्थ ऐसा भी है, जिसे परमेश्वर स्वयं लिख रहे हो ?

श्रुति ने उत्तर दिया ऐसा ग्रन्थ है। उसे परमेश्वर स्वयं लिखते हैं। वहीं मूल ग्रन्थ है।

"पश्य देवस्य काव्यं, न ममार न जीर्यंते।"

इस मोहक प्रकृति को देखो। इसमें मुखरित होते आत्मा के जीवन्त गीत की मधुर ध्वनि को पहचानों। प्रकृति जो न कभी जीर्णता को प्राप्त होती है और न मरती है। (पुनः जीवन्त हो उठती है) यही मूल ग्रन्थ है।

परमेश्वर स्वयं एक से अनेक अनन्त आत्मा स्वरूप होकर प्रकृति रूपी ग्रन्थ को लिख रहा है। यही मूल ग्रन्थ है। पेड़, पौधे, पशु-पक्षी, मनुज सभी इस ग्रन्थ के अक्षर हैं। प्रकृति ही मूल ग्रन्थ है। संदेह उपजते हैं:-

"यदि प्रकृति ही मूल ग्रन्थ था, तो चारों वेद ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, पुराणादि शास्त्र इतने सारे यह ग्रन्थ क्यों ?"

उसका उत्तर मिला कि जिस प्रकार बालक को शिक्षित करने के लिए एक पाठशाला की आवश्यकता होती है। उस पाठशाला में कक्षायें होती हैं। प्रत्येक कक्षा की पाठ पुस्तकें होती हैं। उसी प्रकार जीवन रूपी पाठशाला के उपरोक्त ग्रन्थ पाठ्यक्रम हैं। इनको पढ़कर जीव अपने बौधिक स्तर को ऊपर उठावे फिर स्वतंत्र रूप से ऋषि बन कर मूलग्रन्थ अर्थात् प्रकृति रूपी ग्रन्थ को पढ़े। जो उसके मनुष्य जीवन का मात्र उद्देश्य हैं।

"ईश्वर ने लीलायें क्यों करी ? लीलाओं का क्या प्रयोजन ?"

जब बालक पाठशाला में पाठ्य–पुस्तक के अंश नहीं समझ पाता। विद्वान अध्यापक नाना उदाहरण एवं उद्धरण द्वारा बालक को समझाने का प्रयास करता है, उसी प्रकार जब जीवन के ग्रंथों को हम नहीं समझ पाये तब उन्हीं पाठ्यांशों को परमेश्वर एक विद्वान अध्यापक की भाँति लीलाओं में स्पष्ट करने लगा। सो लीला ग्रन्थ हैं।

इस मोहक प्रकृति को देखो। इसमें तुम्हारे अनन्त अतीत की कथायें सो रही है। इसी में वर्तमान की प्रत्येक चेष्ठा अंगड़ाइयां ले रही हैं। इसी में भविष्य की कल्पना सुखद हो रही है। यदि यह ग्रन्थ न मूल ग्रन्थ हुआ तो फिर कौन सी किताब मूल ग्रन्थ हो जावेगी ?

वेद की महान संस्कृति ने आत्म–प्रधान प्रकृति को ही ईश्वर द्वारा प्रकट ग्रन्थ की संज्ञा दी।

जिस प्रकार पाठशाला में बालक पढ़ने जाता है। वर्ष के उपरान्त उसका सालाना इम्तहान होता है। वही अध्यापक जो उसे पूरा साल पढ़ाता रहा, इम्तहान में निरीक्षक बन जाता है। परीक्षा फल निकलता है कुछ समय उपरान्त। फेल होगा अथवा पास होगा अन्यथा पुर्नपरीक्षा (कम्पार्टमेन्ट) भी हो सकता है।

ठीक इसी प्रकार सनातन धर्म ने प्रकृति को ही मूल ग्रन्थ माना। चौरासी लाख योनियां इस पाठ्यक्रम के अध्याय बनी। परमेश्वर, घट–घट वासी आत्मा होकर शिक्षक बना। मनुष्य की योनि परीक्षा की घड़ी हो गई। वही आत्मा जो अन्य सभी योनियों में जीव का मात्र संचालक था, मनुष्य की योनि में निरीक्षक बनकर देख रहा है।

परीक्षा के क्षण हैं मित्र। अल्प बौद्धिक स्वतंत्रता इसका स्पष्ट प्रमाण है। परीक्षा में आये छात्र की स्वतंत्रता मात्र ही तो मनुष्य योनि में मिली है तुमको, जिस प्रकार परीक्षा स्थल में गये परीक्षार्थी को उत्तर पुस्तिका को और प्रश्नपत्र को अध्यापक ही देता है, उसी प्रकार तुम न शरीर का अंग बना पाये न मिट्टी से एक समय (स्वतंत्र होकर) का भोजन। परिस्थितियों का प्रश्न–पत्र है, जीवन की उत्तर पुस्तिका !

यदि पास होंगे तो मोक्ष मिलेगा। फेल हो गये तो फिर से पढ़ो चौरासी लाख योनियों के सम्पूर्ण अध्याय। यदि अल्पकालिक पुर्नपरीक्षा (कम्पार्टमेंन्ट) के योग्य माना गया तो बारह जन्मों की शूद्रता का प्रतीक सूतक ओढ़कर पुनः परीक्षा हेतु मनुष्य योनि में आना होगा। यदि फिर भी उत्तरायण न हो सके तो वर्तमान जन्म का प्रतीक एक दिन और जुड़ कर तेरहवीं हो जावेगी। शूद्र पुनः महाशूद्र होगा। पांव दक्षिण दिशा में हो जावेगे। उत्तरायण (आत्माद्वैत) हो नहीं पाया। देवयान से जा न सका। अब पितृयान से भेजो। पितृ कौन ? वे पढ़े–जिनके फलों से बना है तन तुम्हारा। शरीर के पितृ पेड़ ही हैं। उनकी लकड़ियों की चिता ही पितृयान है। जिनके फलों से बना है शरीर। उन्हीं की गोद में गमन कर रहा है।

बारह वर्ष का वानप्रस्थ, फिर एक वर्ष का अज्ञातवास, तब होता सन्यास। आत्म ज्वालाओं का प्रतीक अग्निवेश (कषाय वस्त्र) होता। आत्म ज्वालाओं में निरन्तर जलता। सबमें एक ब्रम्ह देखता; प्राणी मात्र की निष्काम श्री हरि समर्पित सेवा, शरीर इन्द्रियों का आत्म यज्ञार्थ प्रयोग। उत्तरायण मार्ग पर गमन होता। जो अतृप्त हो गया, वह पराजित है। पितृयान ही उसका गमन है; जहां पुनःपुनः आवागमन है। तृप्त हो गया जो वह विजेता है। देवयान मार्ग हैं उसका। नित्य में व्याप्त है।

महाराज दशरथ की असमय मृत्यु के वज्रपात से अयोध्या तड़प उठी है। नर–नारी सभी विलख उठे हैं। पूज्य गुरू वशिष्ठ जी ने राजा के शरीर पवित्र स्नान देकर तेल के कुण्ड में सुला दिया। श्री भरत एवं शत्रुघ्न जी को उनके ननसाल से लिवाने अश्वारोही एवं रथ जा चुके हैं। अब शीघ्र ही लौटते होंगे। श्रीरामचन्द्र के अभाव में राजकुमार भरत जी को ही अन्त्येष्टि आदि कार्य सम्पन्न करवाने होंगे।

श्रीराम के विरह में तड़पते हुए महाराजा दशरथ ने देह त्याग दिया है। अतृप्ति के क्षणों मृत्यु का वरण किया है।

श्री भरत एवं शत्रुघ्न जी को कुछ भी नहीं बताया गया है। ऐसा वशिष्ठ जी के आदेश पर ही किया गया है। परन्तु राह के अपशकुन ! शरीर पर हो रहे अशुभ अपशकुन श्री भरत और शत्रुघ्न के हृदय में आशंकाओं के बादल गहरा रहे हैं।

अयोध्या में प्रवेश करते ही दोनों राजकुमार व्याकुल हो उठे हैं। झुके झण्डे, मृदु-मंगल वाद्यों का अभाव और विलखते नर-नारी ! मर्माहत पीड़ाओं से प्रताड़ित होकर मूर्छित होकर सैकड़ों गिरते लोग ! श्री भरत जी ने माता को प्रणाम करके भाई श्री रामचन्द्र और पिता दशरथ जी के विषय में जानना चाहा है। कैकेई के मुख से संक्षेप में सारी कहानी सुनकर श्री भरत मूर्छित हो गये हैं। इसका वर्णन वाल्मीकि रामायण में बहुत मार्मिक है। कैकेई के कुकृत्यों से वे विक्षिप्त हो उठे हैं। पिता के पार्थिव को प्रणाम कर वे कौशल्या के चरणों में पुनः अचेत होकर गिर गये हैं। भीगते सिसकते, विलखते क्षणों का हम अवलोकम कर रहे हैं।

नारायण हरि !

पितृयान

महाराज दशरथ के पार्थिव को "सवन" स्नान करा रहे हैं, राजकुमार भरत! जिस समय दुलहिन विवाह से पूर्व, वर के जल से नहलायी जाती है। उसे सवन स्नान कहते हैं। उसी जल का आचमन भी लेती है। यज्ञ से पूर्व सामिग्री को पवित्र से नहलाते हैं, उसे भी "सवन" स्नान कहते हैं।

उप नः सवनागहि सोमस्य सोमपाः पिब। गोदा इद्रेवतो मदः॥ १.४.२.

(उप) व्याप्त होने को तुममें हम इस देह रूपी दुलहिन को सवन स्नान कराते हैं। वर हमारा ज्योतिर्मय (गोदा) इसलिए ज्योतिर्मय होने के लिए (सोमस्य) ज्योति ही जल (सोमपा) है तथा ज्योति रूपी जल का (पिव) आचमन है। वर हमारा कृष्ण (अग्नि) है, तन सामिग्री है। पितृयान (चिता) पर मिलन होगा ! सामिग्री (तन) व्याप्त होकर अग्नियों में अग्नि हो जावेगी। फिर बन ज्वाला उन्मत्त झूमेगी (इद रेवतो मदः)

यदि गमन हो देवयान से (आत्मा रूपी चिता पर) तो मिलन अन्तिम होता। अनन्त में अनन्त होकर व्याप्त हो जाते "काश" राउर ! तुम देवयान से जाते।

उत्तर देवालय है, दक्षिण पितृालय (चिता स्थल) है। उत्तरायण हो! जीवन के क्षणों को आत्मा रूपी यज्ञ स्थली पर यज्ञ कर! आत्म यान (देवयान) से गमन हो तुम्हारा। जीवन रूपी पाठशाला का मेधावी छात्र बन। उसकी कक्षाओं में निरन्तर उत्तीर्ण हो! कैसे?

अज्ञान रूपी शूद्रता को ओढ़कर उत्पन्न हुआ, तो बारह दिन का सूतक मनाया गया; जब तक यज्ञोपवीत संस्कार न हुआ, तू शूद्र ही कहाया।

गुरू कुल में यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। तू शूद्र से वैश्य हुआ। ज्ञानार्जन ही तो जीवन का धन है। संग्रह करना ही तो वैश्य वृत्ति है।

गृहस्थी को धारण किया छत्र को धारण किया तो क्षत्रिय कहाया। यज्ञोपवीत रूपी गाण्डीव दुहरा हो उठा, मायाओं के महा समर का महारथी! गृहस्थ धर्म में प्रवेश करने का मूल उद्देश्य क्या है?

"जिस प्रकार ईश्वर, आत्मा होकर, सम्पूर्ण सचराचर को एक परिवार के रूप में धारण करता है, उसी प्रकार मैं आत्मवत एक परिवार को धारण कर रहा हूँ। यह नाटक का पूर्वाभ्यास (रिहर्सल) है। क्या मैं आत्मा की भांति ही एक परिवार को आत्मवत धारण कर सकता हूँ? गृहस्थ धर्म को धारण करने के उपरान्त होता वानप्रस्थ?

मेरा पूर्वाभ्यास सफल हुआ। अब मैं एक परिवार तक सीमित नहीं हूँ। असीम की राह असीम होकर चल दिया हूँ। मैं वानप्रस्थ हूँ। सचराचर ही मेरा परिवार है। रिहर्सल समाप्त कर मंच पर आ गया हूँ। प्राणी मात्र की समर्पित निष्काम सेवा ही मेरे जीवन का मन्त्र है।

"वसुधैव कुटुम्बकम्!"

दशरथ मन बना है। वृत्तियाँ कौशल्या हो गयी हैं। ताड़का और मारीच तथा रावण वृत्तियाँ समाप्त हैं। हर ओर श्रीराम हैं। एक वर्ष का अज्ञातवास लेता। क्या आत्मा की भाँति ही सचराचर की सेवा करता मैं सारे अतीत को, उसकी सीमाओं को (भेद–भाव, मेरा–तेरा, ईर्ष्या–द्वेष, लिप्सा–मोह अज्ञान) तोड़ता नित्य

में स्थित हो गया हूँ। यदि हाँ! तो अश्वमेध यज्ञ का आवाहन करूँ। अ+श्व+मेध =अतीत से रहित होकर, सदा वर्तमान में स्थित होते हुये, नित्य आत्मा में अद्वैत करना! (अ=रहित: श्व=कल, अतीत, मृत: मेध= प्रवेश करना, व्याप्त होना)।

अश्वमेध यज्ञ होता। सम्पूर्ण अतीत; के अतीत के स्वजन–मित्र–शत्रु, उपलब्धियाँ सब कुछ शेष होता। फिर अतीत का अमुक व्यक्ति (अर्थात् मैं) अपनी सम्पूर्ण उपलब्धियों सहित यज्ञशाला की यज्ञ वेदी की चिता बनाकर शेष होता। जल जाती चिता मेरी। अतीत का सर्वस्व शेष हो जाता। शेष भस्मी के रूप में निज को ही चिता के फलों सा सरयु में तिरोहित कर देता। सरयु समाता। निर्वस्त्र देह प्रकट होती उस पार अग्निवेश तापस मुझे अग्नियों के वस्त्र देते। अग्नि ही राह होती। अग्निवेश, नित्य में स्थित, वर्तमान ही जीने वाला सन्यासी कहाता मैं। हर क्षण देवाग्नियों में जलता देवयान से गमन कर जाता! राउर! काश! तू देवयान पाता।

निश्चल देह को सवन करते भरत। पितृयान की तैयारी है। जिन पेड़ों के फलों से बना है तन मेरा वे ही तो इस शरीर के पितृ हैं। पितृ अर्थात् पेड़ ही यान अर्थात् चिता बन कर बिछ गये हैं। उन्हीं पेड़ों की लकड़ियों की गोद में। उन्हीं के फलों से निर्मित देह!! पितृयान पर सोई हुई! पितृयान यज्ञाग्नि प्रकट होगी। सवन से पवित्र हुई सामिग्री (देह) हवन होगी। गृहस्थी; नाटक का पूर्वाभ्यास मात्र ही तो था। मंच वानप्रस्थ का पाया नहीं। उत्तीर्ण होता कैसे? तन का ऋण उतारे बिना उत्तरायण की बात कैसी? आत्मा और प्रकृति ने तन बनाया और निरन्तर उसे सजाते संवारते रहे। शरीर; आत्मा प्रकृति की धरोहर ही तो है। प्रकृति और पुरूष (आत्मा) निष्काम नौकर बनकर, निष्काम, सेवाओं द्वारा निरन्तर बनाते और संवारते हैं तो इस शरीर को निष्काम सेवाओं के लिये ही तो बनाते हैं। वानप्रस्थ के लिये ही पूर्वाश्रमों (गुरूकुल, गृहस्थ) की कल्पना है। पूर्वाश्रमों की पूर्णता भी वानप्रस्थ में सिद्ध होती है। जो मात्र संकीर्णताओं के लिये जियें, वह क्या जानेंगे सर्वव्यापी को। जो वानप्रस्थी न हुये; जो प्राणी मात्र के लिये समर्पित सेवक बनकर, ईश्वर की भांति न जिये; वे भला कैसा जान पावेंगे कि ईश्वर क्या है? मन्त्रों के रटने मात्र से प्रेत सिद्ध हो सकते हैं; आचरण, व्यवहार और समर्पित सेवा से ईश्वर!

राजकुमार भरत जी सारे कार्य विधिवत सम्पन्न करा रहे हैं। हृदय में भयंकर तूफान उठ रहे हैं। "इस सबका कारण तू है।" यह विचार बारम्बार उनके

मन उठता है। असह पीड़ा, वेदना, ग्लानी, भाईयों का विछोह। ओह! बाहर शान्त! थिर, गम्भीर!

पांव दक्षिण हैं! दक्षिणायन मार्ग पर अर्थी चल दी है। राउर! तुम विदा ले रहे सदा के लिये? नगर के नर एवं नारियां सब बिलख उठे हैं। कल का जागृत, मुस्कराता, महान व्यक्तित्व अब खो जायेगा अतीत के गहन अन्तरालों में।

कदम बढते जा रहे हैं। झण्डे झुके हैं। हथियार भूमि की ओर झुके हुए है। मानों वे कह रहे हों हम सब काल से पराजित हैं। मध्य मार्ग में यात्रा रूक गई है। ऋचायें गूंज उठी हैं। राऊर! सब त्यागो! एक ब्रम्ह में स्थित हो जाओ। घट फोड़ दिये गये। राऊर! इस देह से भी तुम्हारा सम्बन्ध शेष है। अब मृत्यु रूपी माया तुम्हें खींचे लिये जा रही है। पहले पैर आगे थे अब अर्थी पलट गई है। अब सिर आगे है। पहले तुम स्वयं जा रहे थे; अब माया सिर से पकड़ कर घसीटे लिये जा रही है। राऊर! तुम हारे!

पितृयान की पवित्र वेदी सजी है। सवन आदि से पवित्र देह रूपी सामिग्री उस पर विधिवत लिटा दी गयी है। अग्नि कौन दे? प्रश्न के उत्तर में श्रुति ने कहा, "तन रूपी सामिग्री को आत्म ज्वालाओं में यज्ञ करता, जीव आत्मा से अद्वैत करता। ऐसा क्यों नहीं हुआ?"

उत्तर दिया, "जीव और आत्मा का द्वैत ही मनुष्य की योनि है तथा इसका अद्वैत (जुड़कर एक होना) ही मात्र इस योनि का लक्ष्य है। परन्तु यह व्यक्ति, जीव और आत्मा के द्वैत से भी दूर वासनात्मक जगत से त्रैत कर बैठा था। त्रैतावाद, प्रेतवाद में फँस गया था।"

श्रुतियों ने जानना चाहा, "कौन सी वासना प्रधान थी जिसने इसे अर्न्तमुखी न होने दिया?" उत्तर मिला, "बुढापे में मृत्यु को प्राप्त हुआ है! पुत्रादिक की ही मुख्य वासना रही होगी। श्रुति ने आदेश किया, "जिन पुत्रादिक के कारण यह अर्न्तमुखी न हुआ; जिनको लिप्सा इसे बाहर ही बांधे रही। आत्मा के सत्य के समीप न आने दिया। पुत्रादिक के प्रति आसक्ति ने ही इसके जीवन के मात्र उद्देश्य को नष्ट किया है। इसलिये इसके पुत्र से कहो कि वह अब जलाये इसको।" लड़का अग्नि देता है।

राजकुमार भरत चिता को अग्नि प्रदान करते हैं। कृष्ण का अर्थ अग्नि भी है। लपटें तन को ढक रहीं हैं। द्रोपदी का चीर बढ़ता जा रहा है। लपटों ने तन को न ढका होता तो मैं कितना नंगा हुआ होता? मेरी दुर्गन्ध से समाज कितना त्रस्त होता।

चिता से लपटें उठने लगीं। श्रुतियों ने फिर कहा, "शरीर रूपी सामिग्री को, आत्मा रूपी हवन कुण्ड में, जीव रूपी यजमान को यज्ञ करना था। जीव और आत्मा के अद्वैत को द्वैत करके, उसे ब्रह्माण्ड से स्वतः नष्ट होना था। (देखे अश्वस्थ मित्र) सो यह हो नहीं सका है। यज्ञ तो शरीर रूपी सामिग्री को ही होना है। न कि जीव रूपी यजमान को भी। इसलिए जो वर्तमान यज्ञ में यजमान बना है। अर्थात् पुत्र, जिसने चिता में अग्नि दी है, वही अब कपालक्रिया द्वारा जीव को देह से अलग करे। यज्ञ सामिग्री का हो तथा यजमान को कपाल-क्रिया द्वारा अलग कर दिया जावे। मृत देह से अलग हुआ जीव रूपी यजमान (द्वैतावाद के कारण) प्रेत बनकर अपने पुत्र (जिसने कपाल-क्रिया की है) की देह में वास करेगा। तेरहवीं पर्यन्त उसकी देह में वास करता उसी की इन्द्रियों से गीता, भागवत, गरूड़-पुराण सुनेगा। प्रायश्चित करेगा उपरान्त तथा योनि गमन करेगा। यही कारण है कि आज भी जिसने कपाल-क्रिया की हो उसको घर के लोग भी नहीं स्पर्श करते। उसकी परछांई से दूर रहते हैं। तेरहवीं के उपरान्त मृतक के तन की भस्मी (जिसे वे पवित्र तीर्थ में डालने हेतु लाते हैं) में देखते हैं कि कौन सा चित्र बना? वह किस योनि में गया इत्यादि!

तेरहवीं मनाने के सामाजिक, मनोवैज्ञानिक कारण भी हैं। जो मर गया है उसके प्रति प्रकट किया गया सम्मान अगली पीढ़ियों में पूर्वजों के प्रति श्रद्धा, आस्था आदि का संचार करता है। पुत्र तुम्हारा तभी तो श्रद्धावान होगा जब तुम अपने पिता के प्रति श्रद्धावान होगे। दूसरा कारण है कि व्यक्ति धर्म की बान तभी सुनता है। जब वह अपने समीप होता है। जब लगी है ठोकर! स्वजन की मृत देह उठाकर चलता है तब वह अपने अत्यधिक समीप होता है। इसलिए तेरह दिन का समय अमूल्य हैं। इस समय वह जीवन, मृत्यु तथा नाना रहस्य और जीवन के उद्देश्य जानने को आतुर है। यही समय है जब हम सद्ग्रन्थों द्वारा उसके जीवन को सुखद एवं उद्देश्यपूर्ण बनाकर समाज के लिए भी उसे वरदान बना सकते हैं।

राजकुमार भरत धैर्यपूर्वक सम्पूर्ण कृत्य सम्पादित करते हैं। शत्रुघ्न जी उनके साथ परछांई की तरह लगे हुए हैं। असीम असह पीड़ा, व्यथा को भोगते हुए उनका धैर्य देखते ही बनता है।

नारायण हरि!

श्रीराम-भरत का चित्रकूट में मिलन

वसिष्ठ मुनि के श्री मुख से राज्याभिषेक की बात सुनकर भरत जी के धैर्य के बांध टूट गये हैं। भरी सभा में उन्होंने स्वयं को धिक्काराही नहीं, अपमानित सम्बोधनों से स्वयं सम्बोधित किया है। सारी सभा भरत जी की बातों से बिलख उठी है। स्वयं महामुनि वशिष्ठ जी के नेत्र भी अश्रुपूरित हो उठे हैं। भरत दृढ़ हैं; राज्याभिषेक श्रीराम चन्द्र जी का ही होगा। भरत कदापि राजगद्दी नहीं स्वीकारेंगे। भरत जी सभी सभासदों से, प्रजाजनों से, माताओं से प्रार्थना करते हैं कि सब लोग उनके साथ, वहाँ चलें जहां भाई श्रीराम हैं। साथ में राजसिंहासन चले। वहीं से श्रीराम चन्द्र जी का राजतिलक करके, सभी लोग मिलकर अनुनय-विनय द्वारा ले आवें। भरत जी धन्य हैं। सभी के होंठों एक ही बात है। भरत महान हैं। उनका भ्रातृ प्रेम अलौकिक है।

सारा अवध भरत जी के साथ चल दिया है। प्रत्येक आंख श्रीराम के दर्शन को प्यासी है। उनकी व्याकुलता देखते ही बनती है। सरयु के तट वीरान हो चले हैं। मेरी कथा भी सरयु के तट छोड़ चली है। धूल उड़ाते समूह व्याकुल बढ़े जा रहे हैं- जहाँ वनवासी राम हैं।

निषादराज ने भरत जी को वह स्थान दिखाया है जहाँ श्रीराम एवं जानकी जी ने पेड़ के नीचे जमीन पर लेट कर रात बिताई थी। भरत जी फूट-फूट कर रो पड़े हैं। श्रीराम लीला के युगान्तर मंच पर इन हृदय स्पर्शी क्षणों में निर्मल मन और भक्त हृदय, दर्शक, हर बार भीग गये हैं। हर बार रोये हैं।

लक्ष्मण जी ने दूर से उठते कोलाहल को सुना। ऊँचे स्थान पर फहराती पताकाओं को देखा है तो सहज ही निर्णय पर अंजाने ही पहुँच गये हैं कि भाई भरत, भाई राम को मिटाने आ रहे हैं। क्रोध, आवेश, उनके मन पर छा जाते हैं। भरत जी के अनुचित वाक्यों का प्रयोग करते हैं। श्रीराम उन्हें शान्त एवं संयत करते हैं। लक्ष्मण जी का हृदय निर्मल होता है। श्रीराम और श्री भरत जी के मिलन के क्षण ऐसे मार्मिक हैं कि पत्थर हृदय भी पिघल उठे!

भरत जी मातायें, नगर के वासी सभी श्रीरामचन्द्र जी से वापिस चलने की प्रार्थना करते हैं परन्तु, श्रीरामचन्द्र जी पिता को दिये वचन से विमुख होने को कदापि तैयार नहीं हैं। मुनि वशिष्ठ एवं ऋषियों के सम्मुख वन में ही भरत जी

अपने प्राणो से प्यारे भाई श्रीरामचन्द्र जी राज्याभिषेक करते हैं। श्रीराम वन में
ही अवधेश सुशोभित होते हैं! भरत जी उनकी पादुका लेकर लौट आते हैं।
भक्त की मात्र चाहत यही तो है कि

"भवित में रत" "भरत" भरत रूपी भक्त की मात्र चाहत यही तो है कि जीवन के प्रत्येक क्षण में आराध्य का ही अभिषेक हो। प्रत्येक क्षण ईश्वर को समर्पित भवित में बोते। ईश्वर तो आत्मा होकर विचारों के वन में वनवासी हैं। प्रकट तो सब कार्य जीव द्वारा ही सम्पादित होने से भासते हैं। अज्ञानी, मिथ्याभिमानी जीव कर्तापन के अज्ञान को प्राप्त होता स्वयं को सिंहासन पर बिठाने लगता है। अपना राज्याभिषेक स्वयं करता अपने गाल बजाने लगता है।

"भक्ति में रत" भरत रूपी ज्ञानी समर्पित भक्त अपने निमित्त भाव के सत्य से कभी अलग नहीं होता। कर्ता तो स्वयं नारायण हैं। मैं उन्हीं के द्वारा गतिमान निमित्त सेवक हूँ। भरत कभी गद्दी पर नहीं बैठता। मिथ्याभिमानी गद्दी पर बैठता ही नहीं, स्वयं गद्दी हो जाता है। फिर राजगद्दी उसे गधा बनाकर उस पर चढ़ बैठती है। वह गद्दी का वाहन होता है।

कर्म भरत भी करता है। सांसारिक भी करता है। दोनों में भेद है। भरत जैसे भक्त द्वारा किये कर्म में कर्तापन का अभाव होने से पाप और पुण्य का लेपन ही नहीं होता। भक्त, ईश्वर के निमित्त होकर, ईश्वर के लिये ही निमित्त कर्तव्य को धारण करता है। ऐसा करने से उसकी पाप वृत्तियां स्वतः नष्ट हो जाती हैं। आत्म यज्ञार्थ, आत्म सेवार्थ, आत्मवत किये निमित्त कर्म से वह निरन्तर आत्मा से से जुड़ता जाता है। सामीप्य निरन्तर बढ़ता जाता है। जितना वह आत्मा से जुड़ता जाता है। उतना ही मिथ्या जगत से छूटता चला जाता है।

आत्मा से सामीप्य निष्काम, निमित्त, आत्म यज्ञार्थ, आत्म सेवार्थ आत्मवत कर्म के द्वारा ही सम्भव है। इससे न्यून कुछ भी नहीं। सामीप्य अद्वैत में लय हो जाता है। इसी में भक्ति की पूर्ण सार्थकता है। भक्त तभी भक्त है जब कभी विभक्त न हो अराध्य से।

सांसारिक अज्ञान; मिथ्याभिमान और कर्तापन के भाव से लिपटा रहने के कारण, कर्म द्वारा निरन्तर संसार में बंधता चला जाता है। जितना संसार में कर्म द्वारा बंधता है उतना ही ईश्वर से छूटता चला जाता है। जीवन के उद्देश्य लुट जाते हैं। मंजिल खो जाती है। जो शेष बचता है सिर्फ इतना ही-कैंसर के फोड़े सी जिन्दगी! हर क्षण दुखता। हर क्षण रिसता फोड़े सा! शान्ति मिलती है, तो चिता की लकड़ियों पर!

भरत कभी गद्दी पर नहीं बैठते! नारायण की पादुका ही विराजती है। कर्म ही बांधता है। कर्म ही छुआछूत है। कर्महीन कभी भी कुछ नहीं पाता है। भरत की भांति निमित्त समर्पित भक्त बनकर जीना सीखो! **नारायण हरि!**

चित्रकूट

मन्दाकिनी नदी के किनारे चित्रकूट में श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण एवं जानकी के साथ निवास कर रहे हैं। श्री भरत जी प्रभु श्री राम की खड़ाऊँ को सिंहासन पर सुशोभित कर नन्दिग्राम में तपस्या करते हुये राज्य के कार्य भार को निमित्त भाव से धारण किये हुये हैं।

भक्त कैसा जो निमित्त भाव को त्याग दे! महाविष्णु के रूप में यदि श्री राम बनवासी न हो तो लीला का क्या प्रयोजन? सम्पूर्ण सृष्टि ही निरूद्देश्य हो जाय।

मन्द अर्थात ज्योति, प्रकाश! ज्योतिर्मय तपस्या ही मन्दाकिनी है। नाना विचार हैं वन! घने वनों में कल-कल निनादित करती मन्दाकिनी है। चित्रकूट कहते हैं प्रभु चित द्वारा चित्रित (बनाया हुआ) कूट अर्थात् घर! कौन सा घर है जीव का, जिसे प्रभु स्वयं बनाते हैं? तुम्हारा शरीर।

रे पगले मन, ध्यान से सुन! मन है घना जंगल, विचारों का! गन्दे विचार हैं; असुर, राक्षस आदि! यदि गन्दे विचार रूपी असुरों के भय से मुक्त होना चाहता है तो चित्रकूट अर्थात देह में मन्दाकिनी अर्थात् तपस्या का तट देख! श्रीराम, लक्ष्मण, जानकी की सुन्दर झांकी सजा ले! राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, चिन्ता, क्रोध, लोभ, आतंक, काम, पिपासा, लिप्सा, प्रलोभन रूपी असुर भाग जावेंगे।

चित्रकूट में भगवान श्रीरामचन्द्र, जानकी तथा लक्ष्मण के साथ मन्दाकिनी के किनारे सुशोभित हैं, तीनों ही परमआनंदित हैं। चित्रकूट अर्थात् ईश्वर द्वारा निर्मित उस कूट को अर्थात् घर अर्थात इस देह रूपी घर में आत्मा राम, योग मन लक्ष्मण तथा बुद्धि स्वरूपा भक्ति जानकी के साथ जब वास करते हैं तो वे क्षण परमआनंदित हो जाते हैं। परन्तु जब जानकी अशोक-वाटिका में हैं असहय पीड़ा जानकी जी को है तथा सुखी राम और लक्ष्मण भी नहीं हैं। जब भी हमारी बुद्धि दस इन्द्रियों की दस मुंह बना दशानन रावण की राह पर चली जाती है, मिल जाती है हमको भौतिकताओं की सुनहरी लंका लेकिन खो जाता है योग स्थिति मन लक्ष्मण और मेरी ही आत्मावत आत्मा के अनन्त राम। हमारे सुख, बुद्धि को आत्मा और मन के साथ जोड़े नहीं, यदि एक भी भटक जाता है तो सुख तीनों के खो जाते हैं। "काश" अतृप्तियों का स्वर्ण मृग न ढुंढते हम तब न लंकाओं में ये घुटन भरी जिन्दगी होती हमारी, हम दस इन्द्रियों को रथ बना

दशरथ की राह चलते हम । बुद्धि हमारी समर्पिता भक्त होती ! आत्मा योग में खो गया मन लक्ष्मण होता, आत्म संगी बन जीवन के हर क्षण का अमृत हमें बनाते ।

भक्ति राह भीतर है। चित्रकूट में अर्थात् देह में वास हुये बिना स्वयं को जान पाना असम्भव है। प्रभु की लीला ही अमृत है। जो पीये सो अमर है। हम विचारों के भ्रमजाल में फंसे, वासना के जगत में, भटकते रहते हैं। भौतिकता के बाजारों में जीवन के क्षण लुटाते रहते हैं। रहना था निज देह में परन्तु हमें अपने चित्रकूट में रूकने में फुर्सत कहाँ थी ? जब देह में भक्तिपूर्वक बैठते तो समर्पिता भक्ति श्री जानकी जी के चरणों में झुकते योगी मन का संकल्प, लक्ष्मण जी का आलौकिक दिव्य रूप सम्मुख होता। फिर घट-घट वासी, अजर-अमर अविनाशी, आत्मा रूपी सूर्य, श्रीरामचन्द्र जी के साक्षात् दर्शन होते। उस स्निग्ध प्रकाश में सत और असत का ज्ञान होता। असत को त्याग, करके सत रूपी प्रभु श्रीराम का नित्यानुरागी होता। चित्रकूट में बैठता तो दण्डकारण्य के द्वार खुलते। दण्डक वन है असुरों का अर्थात् दुर्गुणों का वध।

श्रीरामचन्द्र जी ने चित्रकूट का परित्याग करने का निश्चय किया है। क्या वे चित्रकूट से लौटकर वाह्य जगत में आवेंगे ? नहीं ! वे और गहन वनों में प्रवेश पावेंगे ! यही राह है। प्रथम वाह्य जगत के भटकाव से उभर कर देह की सीमाओं में आना ! फिर देह के भीतर गहराइयों में बैठते चले जाना।

राघवेन्द्र, भाई लक्ष्मण एवं जानकी सहित अत्रि मुनि के दर्शन करने जाते हैं। महर्षि अत्रि की पत्नी महासती अनुसूइया, जानकी जी को बहुमूल्य उपदेश करती हैं। 'अत्र' का अर्थ है यहां, इसमें ! मुनि अत्र से मिले बिना यहाँ से आगे जाना सुगम ही नहीं है, पहले यहां (अत्र) आओ, महासती अनुसूइया (सृष्टि, उत्पत्ति का अनुगमन करने वाली) का दर्शन समर्पिता भक्ति (जानकी जी) को मिले। प्रभु की दृष्टि में, सचराचर की उत्पत्ति में मेरे जीवन का सूक्ष्म निमित्त उद्देश्य क्या हैं ? उसके जाने बिना मैं जाऊँगा। कहां ? मात्र भटकूंगा ही तो ! इसलिए चित्रकूट से आगे गहन दण्डकारण्य में निरूद्देश्य भटकाव यदि ईश्वर की प्राप्ति का उद्देश्य देना है तो सावधान होकर महामुनि अत्रि एवं महासती अनुसूइया के अमृत प्रवचन को हृदय में विराजो।

दण्डकारण्य में प्रभु श्रीराम, लक्ष्मण, जानकी जी बढ़ते चले जा रहे हैं। तभी उन्हें "विराध" नाम का असुर मिलता है। जो जानकी जी को जबंदस्ती उठा कर कन्धे पर रख लेता है; राम लक्ष्मण को मारने दौड़ता है। परन्तु दोनों राजकुमार भारी पड़ते हैं। विराध घायल और आसन्न मृत्यु होकर गिर पड़ता है। उस समय विराध श्रीरामचन्द्र से विनती करता है – "भगवन्! अब मैं समझा! आपका चरन स्पर्श मुझे हुआ। आप मेरी गर्दन पर खड़े हो जायें। तभी मेरा शाप मोचन होगा। मैं, वस्तुतः राक्षस कुल में जन्मा नहीं हूँ। मैं तो गन्धर्व हूँ, शाप वश असुर बन गया हूँ। आप मुझे मारकर मेरा उद्धार करें।"

सुर, असुर और गन्धर्व! इसकी चर्चा श्री बाल्मीकि तथा सारी राम कथाओं में निरन्तर आयी है। असुर 'कबन्ध' भी गन्धर्व से असुर बना जिसकी कथा आगे आवेगी। क्या यह किसी ऐतिहासिक घटना क्रम की ओर संकेत कर रही है?

गन्धमादन पर्वतों की निरन्तर श्रृंखलाओं पर बसने वाली गन्धर्व जाति किसी अभिशाप से असुर हो गई? महा शक्तिशाली गन्धर्व जाति का महाविनाश आज से हजारों वर्ष पूर्व हो गया था। और यह पर्वत श्रृंखलायें लगभग मानव विहीन हो गयी थी। उसकी बहुत सी लिखित तथा अलिखित कथायें एवं किंवदन्तियाँ हैं। विनष्ट जाति के इक्का-दुक्का वंशजो ने यत्र-तत्र किसी प्रकार इसे जीवित रखा हो अथवा जंगली वंजारा भटकती मानव टोलियों ने इसे मनुष्य जीवन से पूर्ण किया हो। कुछ भी सप्रमाण कह सकना अब सम्भव नहीं है। समय के गहन अन्तरालों में लुप्त हो गयी सत्य कथा है।

कुछ हजार वर्ष पूर्व यह जातियां "हिन्दुकुश" पर्वत पर लड़ाकू (लगभग चौदह कबीलों के रूप में) कबीलों के रूप में प्रकट होती है। "हिन्दुकुश" पर्वत पर बसने के कारण (अथवा इनके कारण पर्वत का नाम "हिन्दुकुश", कालान्तर में "हिन्दुकुश" हिन्दू कहलाई।

फारसी भाषा में हिन्दु शब्द का अर्थ है चोर, डाकू, गुलाम और काला (कलुषित) "हिन्दु शब्द भारत की प्रसिद्ध भाषा का अंग नहीं है। यहाँ तक कि उत्तर भारत की प्रसिद्ध भाषा, जिसको हम "हिन्दी" के नाम से जानते हैं उसके नाम भी उसकी भाषा का न होकर फारसी का ही अपभ्रंश है। असुर की मूल भाषा का वर्तमान स्वरूप फारसी ही है।

इसीलिये जब भारत स्वतंत्र हुआ था, देश का नाम हिन्दुस्तान अथवा इंडिण्या न रखकर "भारत" रखा गया। उस समय यही कारण मुख्य था। "इण्डियन" भी अंग्रेजी का अपमान जनक शब्द है।

"देश भारत हो; नागरिक भारतीय हों और भाषा का नाम "हिन्दी से बदल कर भारती रखा जाये। पता नहीं क्यों यह विचार, कैसे कहा खो गया और हम स्वयं को पुनः गन्दी नालियों के सम्बोधन से पुकारने लगे। भारत में ही प्रकाशित फारसी शब्द कोशः–

"जवाहर–उल–लुगात फारसी"   लेखकः–मुंशी विशम्भर दयाल।

पब्लिशरः– राम नरायन लाल बुक सेलर, एण्ड पब्लिशर, इलाहाबाद। द्वितीय संस्करण १६२७।

प्रिन्टर्सः– नेशनल प्रेस, इलाहाबाद में मुँशी रमजान अली शाह के प्रयत्न से छपा

प्राक्कथन लेखकः– पं० राजनाथ, राय बहादुर !

पृष्ठ संख्याः– १७३

हिन्दुः– चोर, डाकू, गुलाम काला।

हिन्दुजनः– जादूगरनी (अर्थात् कुलटा, डाईन)

"लुगातः– ए– किशारी प्रकाशकः– नवल किशोर प्रेस, लखनऊ १६८१ संस्करण के पृष्ठ ८२१ और ८२२ पर भी यही अर्थ है।

बर्बर मंगोल, तातार तथा अन्य लड़ाकू खाना बदोश, कबाइली जातियां अपनी लड़कियों को जन्मे ही मार देती थी। जब उन्हें औरतों और गुलामों की जरुरत होती थी तो 'हिन्दुकुश' पर्वत ही उनकी इच्छा पूरी करता था। जहां नारी मिले, नोचने को उसके गुप्तांग मिले, जहां गुलाम मिले, उस पर्वत का नाम है 'हिन्दुकुश'। यही इसका पूरा अर्थ भी था।

गन्धर्वों के विनाश के उपरान्त उभरी जातियाँ असुर धर्म को धारण कर गयी। प्राचीन सारे ग्रन्थों में इसीलिए गन्धर्व अभिशप्त हो असुर हो गये, ऐसी असंख्यों कथायें बारम्बार दुहराई गयी हैं। गन्धर्व जो अभिशप्त असुर हो गये। विराध भी कहता है कि वह असुर नहीं है। वरन् गन्धर्व है जो अभिशाप वश असुर हो गया है।

कालान्तर में यह जातियाँ इस्लाम की आंधी में असुर से इस्लाम धर्म को धारण कर गयी। वस्तुतः उन्हीं को 'हिन्दू' कहते थे। परन्तु जब देश गुलाम हुआ तो अपमान

करने हेतु सारे भारत के मूल निवासियों को इस अपमान जनक नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। कल वह हमें गाली देकर बुलाते थे; आज हम गाली स्वयं को देकर प्रसन्न होते हैं।

विराध-वध के उपरान्त भगवान श्रीरामचन्द्र शरभंग ऋषि के आश्रम में आते हैं। ऋषि शरभंग उन्हें मुनि सुतीक्ष्ण के दर्शन करने की बात कहकर निज देह को अग्नियों को अर्पित कर दिव्य धाम को गमन करते हैं।

विराध शब्द का संस्कृत भाषा में अर्थ है :– विरोध (विराध से ही विरोध बना है), अपमान और अपकार। जीवन से इस असुर वृत्ति को हटाये, मिटाये बिना ब्रम्ह के सत्य को पाना सम्भव कहां ? जब तक मन विरोध ; अपमान और अपकार के भावों को त्यागेगा नहीं ; वह "स्थिति प्रज्ञ" अर्थात् शरभंग नहीं हो सकता। शरभंग अर्थात् स्थिति-प्रज्ञ मन ही श्रीराम में सृष्टा के दर्शन पाकर मोक्ष को प्राप्त हो सकता है।

सुतीक्ष्ण अर्थात् दिव्य-सूक्ष्म सत्य को ग्रहण करने की शक्ति एवं स्पष्टता तभी जीवन को वरद करती है। एक रात्रि श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण एवं जानकी जी मुनि सुतीक्ष्ण के आश्रम में बिताते हैं।

काश ! हम भी तन-मन, विचार से एक रात ही ठहर पाये होते।

नारायण हरि !

★

शूर्पणखा

दण्डकारण्य में दस वर्ष। जीवन के अमूल्य वर्ष। आत्मा श्रीराम, सर्मपिता भक्ति जानकी जी और उनकी सेवा में लगा निरन्तर संकल्पित तापस, योगी मन, लक्ष्मण ! देह की सीमाओ को लॉघ अर्न्तजगत के गहन अन्तरालों में स्वयं को खोजता ; प्रायश्चित एवं स्वयं की गलतियों के लिए स्वयं को दण्डित करता ; दण्डी तापस ! दण्डकारण्य के दस वर्ष। तपस्या, साधना, सर्मपिता भक्ति; सचराचर में एक ब्रम्ह का भाव ! प्राणी मात्र की निष्काम निमित्त सेवा पर स्थिर हो गयी इच्छा ! अन्यथा इच्छाओं का अभाव। बीत गये हैं दस वर्ष। वनवास की लम्बी अवधि अब समाप्त प्राय है। फिर शुरू होते हैं परीक्षा के क्षण !

श्रीरामचन्द्र जी, पत्नी एवं भ्राता सहित सभी ऋषि, मुनि, तापस आश्रमों का सत्संग लाभ करते हुए ऋषि अगस्त्य के दर्शन को जाते हैं। अगस्त्य मुनि से

असुर काँपते हैं। मुनि श्रीरामचन्द्र को विश्वकर्मा द्वारा निर्मित एक धनुष, अक्षय तुणीर और एक खड्ग उपहार स्वरूप प्रदान करते हैं। श्रीरामचन्द्र जी पंचवटी में पर्णशाला बनाकर रहने लगते हैं। वहां पर गिद्धराज जटायु से भेंट होती है। कंवन आदि बहुत से कवियों ने भेंट का अति सुन्दर वर्णन किया।

शिशिर ऋतु का आरम्भ हुआ ही था। तीनों अपनी पर्ण कुटी पर बैठे चर्चा मग्न थे। तभी वहाँ असुर राज रावण की बहन शूर्पणखा आयी। श्रीराम को देखकर मोहित हो गयी। श्रीराम द्वारा न ग्रहण किये जाने पर लक्ष्मण से ही काम पिपासा शान्त करनी चाही परन्तु लक्ष्मण जी भी न माने। तब विकराल रूप धारण करके सीता जी को खाने दौड़ी। इस पर लक्ष्मण जी ने उसके नाक-कान काट लिये! आहत और कुपित होकर वह खर, दूषण अपने भाइयों के पास गई। उन्होंने अपनी चालीस हजार असुर सेना के साथ श्रीरामचन्द्र पर आक्रमण किया। श्री भगवान द्वारा वे सब मृत्यु को प्राप्त हुये।

असुर ने नारी को सदा भोग्या माना था। नारी जब मात्र भोग्या बनी तो उसका चरित्र भी क्षीण हो गया और पुरूष की भांति ही स्वच्छन्द यौनाचार उसके जीवन का अंग बन गया। आज भी जहां-जहां बहुत पत्नी तथा वेश्याओं के समूह रखने की प्रथा है वहाँ कुण्ठित, अपमानित नारी शूर्पणखा के ही मनों भावों को प्राप्त हो जाती है। इतिहास साक्षी है। ऐसी परम्पराओं को धारण करने वाली जातियों के राजा, नेता, अलोकिक पुरूष भी पत्नियों द्वारा विष देकर मारे गये।

यहाँ मन में संशय उठता है कि लक्ष्मण ने शूर्पणखा के नाक-कान क्यों काटे? क्या यह नारी के प्रति अत्याचार नहीं? सहज उत्तर है कि शूर्पणखा जानकी को व्यर्थ में ही मार कर खाना चाहती थी। ऐसी स्थिति में लक्ष्मण जी को उसे ताड़का की भांति ही मार देना चाहिये था। परन्तु उसकी काम-पिपासा की अतृप्ति को देखते हुये उन्होंने उस पर दया की, तथा हल्का दण्ड देकर उसे जीवित छोड़ दिया। इसमें अनुचित क्या है?

जो कहीं आता-जाता नहीं, एक ही स्थान पर रहता है उसे 'अग' कहते हैं। आवागमन से रहित होकर जो नित्य सत्य में स्थित है उसे ही कहते हैं। अगस्त्य! मुनि अगस्त्य के दर्शन के उपरान्त अन्याय की कल्पना श्री लक्ष्मण के हाथों, स्वयं में कल्पनातीत है।

शूर्पणखा विषयान्ध मन की काम पिपासा है। कामदेव को स्वयं रुद्र भी भस्म करके समाप्त नहीं कर पाये। काम अमर है। उसे मारा नहीं जा सकता है। काम रूपी विचार को दण्डित करके स्वयं से दूर कर सकते हैं। इसीलिये शूर्पणखा मरती नहीं है। मरते खर, दूषण एवं उसके जुड़े हुये नाना विचार रूपी असुर सेनानी। खर है काम पिपासार्थ जुड़ी गधे की लदान और दूषण है इस असत्य मार्ग में व्याप्त दुर्गन्ध। काम-पिपासा की अतृप्ति से उभरते नाना गन्धे विचार, काम, क्रोध, लोभ, अन्याय, प्रलोभन, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, चिन्ता, भय, आतंक, असत्य, विरोध, शोषण, प्रतिशोध, अतृप्ति के असंख्यों स्वरूप! इन सबको मारकर भी श्रीराम, लक्ष्मण, जानकी निरपादन नहीं हैं। अतृप्त काम-पिपास रूपी शूर्पणखा का बड़ा भाई महाशक्ति शाली मिथ्याभिमान और मोहान्धता का जागृत स्वरूप मन रूपी दशानन रावण बाकी है। जब तक रावण नहीं मरेगा। परीक्षा अपूर्ण रहेगी। इतिहास, समाज और अध्यात्म की त्रिवेणी रूपी श्रीराम कथा के तीर्थ में, हम स्वयं को पवित्र कर रहे हैं। जीवन का महाप्रयाग हमारे सम्मुख है।

शूर्पणखा की काम-पिपासा उसे कुरूप बना देती है। सच बताओ! झूठ मत बोलना! क्या तुम्हारी काम-पिपासा में भटकी जिन्दगी ही तुम्हारी कुरूपता का कारण नहीं हैं?

खर, दूषण की सेना में बचा अकंपन नाम का असुर दौड़कर रावण के पास जाता है और उसे सारी घटना की सूचना देता है। रावण विचलित हो उठता है। उसका क्रोध भड़क उठता है। परन्तु अकंपन उसे राम की शक्ति का परिचय देकर उसका सामना न करने की सलाह देता है।

शूर्पणखा भी भाई रावण के पास जाकर अपना दुखड़ा गाती है और उसे श्रीरामचन्द्र से बदला लेने के लिए प्रेरित करती है। परन्तु श्रीराम से भयभीत रावण उसका सामना करने से हिचकिचाता है। वह मारीच के पास जाता है। तथा उसे माया मृग बनने पर मजबूर करता है। 'मृग मरीचिका' का अर्थ है मृगतृष्णा! मृगतृष्णा ही मोहान्ध मन का परोक्ष आक्रमण है। सावधान!!

नारायण हरि!

स्वर्ण मृग

चहुँ ओर मोहक प्राकृतिक छटा छाई है। पर्णकुटी में जानकी श्री राघवेन्द्र के बाम बैठी प्रकृति की मनोरम छटा का पान कर रही हैं। उनकी दृष्टि स्वर्ण मृग पर स्थिर हो गयी। उसकी मोहक स्वर्णिम छवि, मन में अनायास उसे पाने की लिप्सा को उत्पन्न कर रही है। उसकी सुन्दर मोहक, भोली बड़ो–बड़ी, चंचल मछलियों की सी थिरकती आँखें! अनायास जानकी के मन में इच्छाओं का भ्रमजाल उत्पन्न करती हैं।

मन हमारा अति बलवान है। हजार हाथियों की शक्ति भी इसे नहीं बांध पाती है। परन्तु इच्छा की महीन कच्ची डोरी में बेबस होकर बंध जाता है।

जानकी जी भगवान श्री रामचन्द्र जी से प्रार्थना करती हैं कि हरिण को जीवित पकड़ लावें। जानकी जी उसे पालेंगी तथा अयोध्या लौटकर श्री भरत जी को भेंट के रूप में प्रदान करेंगी। श्री रामचन्द्र जी धनुष बाण लेकर हरिण का पीछा करने जाते हैं। पीछे लक्ष्मण जी को जानकी की रक्षा करने हेतु सचेत कर गये हैं।

माया मृग क्षण–क्षण दिखता फिर लोप हो जाता। पुनः प्रकट होकर कनखियों से श्री राम को देखता फिर भाग खड़ा होता। श्रीरामचन्द्र जी उसका पीछा करते बहुत दूर निकल जाते हैं। तभी उनके मन में सन्देह उठता है कि कहीं यह कोई छलवा तो नहीं। सन्देह धीरे–धीरे तर्क द्वारा पुष्ठ होने लगता है। श्रीरामचन्द्र उस पर बाण चला देते हैं। बाण हरिण के सीने में लगता है और घायल होकर मायावी मारीच जिसने सोने का हरिण का रूप भरा होता है, गिर पड़ता है। गिरते समय वह रामचन्द्र की आवाज से बड़े जोर से "हा! लक्ष्मण!!" "हा! सीते!!" बारम्बार चिल्लाता मृत्यु का वरण कर लेता है। राघवेन्द्र निराश लौट पड़ते हैं।

मारीच की आवाज जब पर्णकुटी में पहुंचती है तो जानकी जी व्याकुल हो उठती हैं। वे लक्ष्मण से शीघ्र श्री रामचन्द्र के पास पहुंचने की विनती करती हैं।

लक्ष्मण जी उन्हें समझाने का बहुत प्रयास करते हैं तो व्याकुल जानकी कुपित होकर निष्पाप लक्ष्मण को कटु शब्द प्रहार करती, जाने का आदेश करती हैं। लक्ष्मण जी पर्ण कुटी के चहुँ ओर लक्ष्मण रेखा खींचते हैं तथा जानकी जी से प्रार्थना करते हैं कि वे रेखा से बाहर कदम न रखें। लक्ष्मण जी चल देते हैं।

तभी रावण प्रकट होता है। जानकी जी को अकेला जानकर बलात् अपहरण हेतु पर्णकुटी में प्रवेश करना चाहता है, परन्तु लक्ष्मण जी द्वारा खींची रेखा को पार नहीं कर पाता। तब वह माया हो सन्यासी का वश धारण करता है। जानकी जी से भिक्षा चाहता है परन्तु शर्त यह है कि जानकी जी रेखा के बाहर आकर ही भिक्षा दें। भोली जानकी लक्ष्मण–रेखा को लाँघ जाती हैं। रावण उनका अपरहण कर लेता है। वीर जटायु रावण का सामना करता हुआ, मरणासन्न होकर गिर पड़ता है। रावण जानकी जी को बांधकर रथ में डालकर लंका की ओर उड़ जाता है। वीरान पर्णकुटी है। उदास सांझ है; दूर राह में घायल मरणासन्न जटायु है। बिलखती जानकी जी को रथ पर बांध कर उड़ाये लिये जाता रावण है। हवायें खामोश हैं। पक्षी और वातावरण स्तब्ध है। एक भयंकर रहस्यमयी नीरवता! मंच पर लगी दर्शकों की आंखे! अब क्या होगा? बेचारी जानकी! मांगा था सोने का हिरन, मिली सोने की लंका? हा राम! हा राम!! बिलखती, तड़पती, बारम्बार मूर्छित होती श्री रामचन्द्र जी की प्राण बल्लभा!

मर्यादाकी रेखा ही लक्ष्मण रेखा हैं। श्री राम कथा जीवन का अमृत है। जिसने, जब कहीं भी, जब कभी भी मर्यादा रूपी लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन किया, रावण (मोहान्ध मिथ्याभिमानी मन) उसके सर्वनाश का कारण बना। लक्ष्मण रेखाओं को जीवन के प्रत्येक क्षण में सम्मान दो। कभी दुखी नहीं होंगे।

अध्यात्म की कथा में; राम–कथा का रहस्य जानों! दशरथ (दश+रथ= दसों इन्द्रियों का निग्रह करने वाला) और दशानन (दसों इन्द्रियों को दस मुँह बना

कर सचराचर का भक्षण करने वाला) मन की दो अवस्थायें हैं। मन बना दशरथ तो प्रकृति (जीव) का मिलन श्रीराम (घट–घट वासी आत्मा) से हुआ। परन्तु जब मन दशानन बना, तो लिप्साओं और इच्छाओं के भ्रमजाल फैलने लगे। जानकी की इच्छा के लिये ही तो राम गये थे हरिण के पीछे! लक्ष्मण जी को भी तो जानकी ने ही भेजा था।

मन को दशानन बनाकर मैं भी इच्छाओं और लिप्साओं के भ्रमजाल में फंसा जीवन की मर्यादा रूपी लक्ष्मण रेखाओं को तोड़ता फिरा। चल दिये आत्मा रूपी श्रीराम! ढूढ़ने स्वर्ण-मृग को! स्वर्ण-मृग? जीवन के स्वर्णिम क्षणों का स्वर्ण-मृग! राम अर्थात् गया। पीछे निर्जीव देह पड़ी थी। पांव दक्षिण हो गये। बंधा, अर्थी बना! रथो (कन्धों) पर बंध चला दक्षिण। लंका! शमशान घाट!! लंका के वासी भूत, प्रेत, राक्षस, पिशाच! सो ही वासी हैं आज भी श्मशान घाट के। लंका का राजा रावण पंडित अर्थात् ब्राम्हण है। जो चिता जलाता है उसे हम महाब्राम्हण (महापात्र) कहते हैं। रावण आज भी वैसा ही खड़ा है। पूछता महापात्र हमसे! 'आप मुझसे दूर रहना चाहते हैं; क्योंकि मैं मुर्दे जलाता हूँ। परन्तु आज! जिसने जीवन के प्रत्येक क्षण को भौतिक विषयान्धता में जलाया? मैंने जलाये सिर्फ मुर्दे! तुमने जलाये जीवन के जीवन्त क्षण! मुझसे तो दूर भागते हो परन्तु मुझसे बड़े और कुत्सित महापात्र (स्वयं से) कब दूर भागोगे? रावण से महा पंडित! महा विद्वान! पहचान तो स्वयं को?'

श्रीरामचन्द्र जी ने वन में लक्ष्मण जी को देखा तो चौक पड़े। लक्ष्मण जी से सारी कथा सुनकर व्यथित हो उठे। शीघ्रता से दोनों भाई पर्ण-कुटी पर आयें! वीरान, उजाड़, अस्त-व्यस्त प्रत्येक वस्तु थी। अचानक सांझ दोनों भाईयों के मुख मण्डल पर उतर आयी। नेत्र सजल हो उठे। श्री राम के होंठ काँपे, "लक्ष्मण! हम लुट गये! हा! जानकी।"

शीघ्रता से दोनों भाई उन्हें ढूंढने लगे। जानकी तो मिली नहीं, मिला घायल तड़पता, जीवन की अन्तिम सांसें गिनता, जटायु। जटायु ने रुक–रुक कर सारी कथा बतायी। रावण द्वारा सीता का अपहरण। जटायु का अवरोधक बनकर युद्ध करना और घायल होकर आसन्न मृत्यु होना। रावण का विलखती जानकी को बलात् पकड़ कर वायु रथ द्वारा दक्षिण लंका की ओर उड़ जाना। फिर श्रीराम की गोद में प्राण त्याग दिये महान जटायु ने।

हे राम! नारायण हरि!

मन्दोदरी रावण संवाद

"अपराध क्षमा करें नाथ ! आपने सीता का अपहरण करके अच्छा नहीं किया !" मन्दोदरी ने अपने पति, सप्तद्वीप पति, दशानन रावण से कहा।

"इसमें अनुचित ही क्या है, नारी ?" रावण ने प्रश्न किया।

"किसी नारी का, उसके पति की अनुपस्थिति में बलात् अपहरण क्या अनुचित नहीं है ?" महारानी मन्दोदरी ने दशानन रावण के चरण दबाते हुए कहा; रावण ठठा कर हँसा।

"क्या तुम भूल गयी हो कि तुम असुर राज रावण के सम्मुख हो ! मैंने पूरी तरह से असुर धर्म का पालन किया है। नारी भोग्या है ; धरती के समान है ! वीर भोग्या वसुन्धरा ! इससे पूर्व भी तो देव, किन्नर, यक्ष, गन्धर्व सुन्दरियों का बलात् अपहरण करके लाया था। तब तो तुम्हें कुछ अनुचित नहीं लगा था ?"

"उन्हें आप जीतकर लाये थे। परन्तु सीता को आप छल कर लाये हैं।"

"भोली मन्दोदरी ! आज तुम्हें क्या हो गया है। असुर युद्ध में छल को भी युद्ध का अंग ही मानता हैं। क्या तुम भूल गयी कि प्रत्येक युद्ध में हम छल युद्ध और माया युद्ध द्वारा ही विजयी हुए हैं। शराब में विष मिला देना। सोते में मार डालना। रात्रि में अन्धकार का लाभ उठाकर आक्रमण करना, क्या हमारे युद्ध के सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं ?" श्री रामचन्द्र छल-युद्ध हारे ! मैं जीता !"

"परन्तु देव ! श्री रामचन्द्र ने युद्ध की घोषणा कब की ? आपने उन्हें युद्ध के लिए सचेत भी तो नहीं किया ?"

"मन्दोदरी ! इससे क्या फर्क पड़ता है। मैं आरम्भ में ही जानकी को पाना चाहता था। इसलिए स्वयंवर में भी गया था परन्तु जनक ने असुरों को वर्जित कर दिया था। इसलिए साधारण मनुष्य के साथ प्यारी जानकी को भटकना पड़ा। जिसे असुर राज के बांये सुशोभित होना था वह एक मानवीय कीड़े के साथ वन-वन में भटक रही थी। मैंने उसका उद्धार किया है।"

"स्वामी ! जानकी इसे अपकार ही मानती हैं। श्री राम के अतिरिक्त वह कुछ भी नहीं चाहती !"

"उसे उस कीट को भुलना ही होगा। उसे असुर राज रावण की सहचरी बनना होगा। यदि वह स्वेच्छा से स्वीकार करे तो अति उत्तम है। अन्यथा उसे विवश होकर मेरी भोग्या बनना होगा।"

"क्षमा करें प्रभु ! जानकी को विवश नहीं किया जा सकता !" मन्दोदरी ने गम्भीरता से कहा।

"कौन रक्षा करेगा उसकी ? कौन रोक सकता है सप्त द्वीप पति को ? कैसे कहा तुमने ? मन्दोदरी सच-सच बताओ ?" उसके साथ कौन है ?"

'मृत्यु' मन्दोदरी ने संयत वाणी से उत्तर दिया।

'स्पष्ट करो मन्दोदरी ! मैं समझा नहीं ?' रावण ने पूछा।

'क्या आपने उसके मुख-मण्डल एवं सम्पूर्ण शरीर पर विचित्र ज्योति का आभा-मण्डल देखा है ?' मन्दोदरी ने पूछा।

'हां ! एक विलक्षण प्रकाश एवं आभा से प्रदीप्त है वह ! ऐसा तेज मैंने किसी तपस्वी के मुख-मण्डल पर समाधि और साधना के क्षणों में भी नहीं देखा !' रावण ने कहा।

'प्राणनाथ ! ऐसा प्रकाश आपने कहीं और भी देखा है। याद करें, जब आप मुझे लेकर भगवान शंकर के दर्शन करने कैलाश पर्वत पर गये थे ? महा शिव एवं पार्वती जी के मुख–मण्डल का ध्यान करें ?'

'लगता है तुम ठीक कह रही हो। हां ! बिल्कुल ठीक! ऐसा ही देखा है।' रावण ने गम्भीरता से सोचते हुए कहा। कुछ क्षण विचारों में खो गया।

'परन्तु इससे अन्तर क्या पड़ता है ? 'उसने पुनः पूछा।

'आप जानकी को कभी विवश न कर पावेंगे।'

'ऐसा क्यों ?'

"विवशता के क्षणों में जानकी एक क्षण में मृत्यु का वरण कर जावेगी देव! वह साधारण स्त्री नहीं हैं।" मन्दोदरी ने समझाते हुये कहा।

"ओह ! मन्दोदरी ! क्या तुम सच कह रही हो ! लगता है तुम ठीक कह रही हो ! जानकी विवश नहीं की जा सकती ! परन्तु मैं बहुत विवश हूँ। बहुत

व्याकुल हूँ। बहुत प्यासा हूँ! उसको भोगे बिना मुझे शान्ति नहीं है। रावण ने विवशता से कहा।

"अपराध क्षमा हो देव। आप असुर राज दशानन रावण होकर भी साधारण मनुष्यों की भाँति भोले और विवश हैं। अतुल शक्ति एवं ऐश्वर्य सम्पन्न होकर भी हीन हैं। ज्ञान के अखण्ड भण्डार होकर भी न जाने क्यों अज्ञानी का सा आचरण कर रहे हैं। उस ज्ञान का क्या प्रयोजन जो जीवन में उतर न पाया उन बादलों की भाँति जो गगन में गहराते तो हैं, परन्तु बरसते नहीं। नन्हें पौधों को जल तो मिलता नहीं, उल्टा उनकी पत्तियों को कीड़े खा जाते हैं।" विदुषी मन्दोदरी ने कहा।

"मन्दोदरी! मेरी प्रणय और काम–पीड़ा की विवशता पर तुम्हारे उपदेश का क्या प्रयोजन?"

"स्वामी! मुझे दया आती है। आप सत्य कहें; क्या आपने आज तक किसी नारी को भोगा? अथवा अपनी इन्द्रियों को अपनी सामर्थ्य के अनुरूप भोगा। क्या नपुंसक व्यक्ति किसी नारी को भोग सकता है? आपने अपनी इन्द्रियों को ही भोगा! इन्द्रियां गतिमान आत्मा द्वारा हुई तो आपने अपनी अन्तरात्मा को ही तो भोगा! अज्ञान के वशीभूत आप मानते फिरे मैंने अमुक–अमुक को भोगा पति के लिए नारी कामार्थ निमित्त पूरक ही तो है। भोगते दोनों अपनी आत्मा को हैं। ज्ञानी जन इसीलिए एक पत्नीव्रती होते हैं। अज्ञानी जन ही नारियों के समूह एकत्र करके उन्हें पशुवत ढोते हैं तथा नारियों का मनोरंजक खिलौना बनते हैं। पुरूष को चाहिए कि एक सुलक्षण, सह धर्मिणी पतिव्रता! नारी को चाहिए कि सुधर्मा स्वस्थ एवं सुन्दर व्यवहार कुशल समर्पित पति!"

"तब फिर मैं क्यों भटकता हूँ?"

"आप परम ज्ञानी एवं परम विद्वान हैं प्रभु मैं साधारण नारी भला इसका क्या उत्तर दे सकती हूँ।"

"मन्दोदरी! कुछ भी हो! मैं जानकी को पाना चाहता हूँ।"

"मैं भी चाहती हूँ कि आप पायें उसको, मेरे स्वामी! परन्तु भयभीत हूँ कि कहीं आप जल्द बाजी में उसे सदा के लिए न गवाँ दें!" मन्दोदरी ने समझाया।

"तुम ठीक कहती हो मन्दोदरी ! इससे पूर्व जो भी तुमने कहा है वह परम सत्य है । मैं महा विद्वान और महा पंडित और महा ज्ञानी माना जाता हूँ, परन्तु मुझे अब लगता है कि मैं महा मूर्ख हूँ ! सुन्दरियों के समूह मेरे अज्ञान के ही प्रतीक हैं । मेरा ज्ञान, मात्र मिथ्याभिमान को ही जन्मता है । इसमें दोष मात्र मेरा ही नहीं है । एक ही कन्धे पर दस सिर देकर मुझे ईश्वर ने वरद नहीं, अभिप्त ही किया है । तुम्हीं मेरी जानकी हो । मुझे सुख दो !"

"आपकी जानकी, आपकी अन्तरात्मा है नाथ! सुख वही देगी । मैं उसकी निमित्त हूँ ।"

नारायण हरि !

☆

नवधा-भक्ति

दोनों भाई दक्षिण की ओर सीता की खोज में बढ़ते जा रहे हैं । इस समय का वर्णन सभी कथाकारों ने बहुत ही मार्मिक ढ़ंग से किया है । बहुत बार ऐसा लगता है कि कथाकार श्रीरामचन्द्र के स्वरूप, चिर, गम्भीर शांत स्वभाव तथा मर्यादा का भी उलंघन कर गये हैं । जैसे कल्पना की आंखों से दृश्यों की कल्पना करके स्वयं के मनोभावों को ही श्रीरामचन्द्र जी का स्वरूप दे बैठे हों । सम्भव है कथा रोचक बनाने में तथा नाटकीय सहज स्वाभाविकता हेतु ऐसा किया गया हो । क्या यह "स्थिति प्रज्ञ" दर्शन की अवहेलना है ? नहीं ! उसका व्यवहारिक विशुद्ध स्पष्टीकरण है ।

मनुष्य उसी को कहते हैं, जो सहज अनुभूतियों को प्राप्त है । मनुष्य, पत्थर नहीं हो सकता है । स्थिति प्रज्ञ यदि सहज मानवीय अनुभूतियों से परे हो गया है, तो सूक्ष्म ईश्वरीय अनुभूति को भी कैसे ग्रहण कर पावेगा ? "स्थिति प्रज्ञ" वस्तुतः वही है जो अनुभूतियों से कुण्ठित नहीं, वरन कहीं अधिक जागृत है । प्रत्येक घटना क्षणिक रूप में चलायमान तो करती है। परन्तु उसका नित्य जागृत विवेक उसे अनुभूतियों की परिधि से यथा शीघ्र निकाल कर, शांत ब्रह्म में व्याप्त कर देता है।

श्रीरामचन्द्र की विरह, आतुरता, दुख और पीड़ा उपरोक्त व्याख्या का स्पष्ट, विशुद्ध एवं पूर्ण व्यवहारिक स्पष्टीकरण है ।

राह में एक विचित्र प्रकार के असुर ने दोनों राजकुमारों को अपनी विशाल भुजाओं में बांध लिया है। उसका शरीर केवल धड़ मात्र है। छाती पर ही मुँह है तथा एक आंख है। बड़ी-बड़ी भुजाएं हैं उसकी। वह एक स्थान पर ही पड़ा अपनी विशाल भुजाओं से जीवों को पकड़ कर खा जाता है। श्रीराम एवं लक्ष्मण जी को भी उसने अपनी भुजाओं में कस लिया है। दोनों भाई उसके हाथ काट देते है। तब राक्षस उनसे कहता है:-मैं असुर कबन्ध हूँ भगवन ! अभिशप्त हूँ। आप मेरा उद्धार करे। मुझे मार कर जला दें।

दोनों भाइयों ने ऐसा ही किया। जलते ही उसकी चिता से एक दिव्य गन्धर्व प्रकट हुआ। उसने कहा, "आप सीता को अवश्य पायेंगे। पम्पा नदी के तट, ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव से मित्रता करें !"

दोनों भाई चल दिये। राह में मतंग ऋषि के आश्रम पर वृद्धा शबरी से उनकी भेंट हुई। श्रीराम कथा में शबरी का चरित्र अमूल्य, पावन स्यमन्तक मणि के समान है। शबरी के जूठे बेरों की कथा कौन नहीं जानता। तुलसीकृत मानस में श्रीरामचन्द्र द्वारा शबरी को "नवधा" भक्ति का उद्देश्य सम्पूर्ण कथा का बिलोया हुआ अमृत है।

असुर कबन्ध के सिर नहीं है। पेट में ही मुँह है और छाती में आँख ! यही तो असुरवृत्ती है। जो सिर्फ भक्षण हेतु ही पैदा हुए हैं तथा एक आंख से जो दिखे उसे बल पूर्वक खाना और नष्ट करना मात्र ही जिनके जीवन का उद्देश्य है; उन्हें सिर की तथा सिर में व्याप्त सोचने और समझने वाली बुद्धि की क्या जरूरत ? छाती शक्ति का अभिमान है। छाती से प्रकट आँख मिथ्याभिमान और मोहान्धता का प्रतीक है। एक ही आंख है अर्थात् उसके पास न्याय, अन्याय; उचित अनुचित विचार का नितान्त अभाव है। यही असुरवाद है गन्धर्व भी जब अभिशप्त होता है इस घृणित अवस्था को प्राप्त होता है।

शबरी श्रीराम कथा में पवित्र भावना का प्रतीक है। भावना भक्त और भगवान, दोनों की माँ है। यहाँ भगवान भक्त के छोटे भाई हैं। क्यों ? भावना के गर्भ से पहले भक्त प्रकट होता है तब कहीं पत्थर की मूरत भगवान होती है। यदि भावना ही नहीं तो तुम भक्त कहां और पत्थर की मूरत भगवान कहां।

आज भी असुर कवन्ध कभी सत्संग में अथवा कथा सुनने नहीं आता। कथा सुनाती है पवित्र शबरी ! कबन्ध के सिर नहीं। छाती पर आँख है और पेट में मुँह ! नोट भक्षण, भौतिकता वरण और समाज शोषण! के अतिरिक्त कबन्ध को कोई दूसरी बात समझ में नहीं आती है। आप उसे अपने चारों ओर देख सकते हैं। सब ओर से गोल, एक तिजोरी के जैसा नजर आवेगा। तिजोरी के सिर नहीं होता। पेट में मुंह होता है और छाती पर आँख अर्थात् ताला। चाबी लगने का स्थान। असुर कवन्ध तिजोरी ही है। इसे मारकर संसार सेवा में लगा दो। ईश्वर मिल जावेंगे। अन्यथा, जैसे शहतूत के पेड़ का कीड़ा संग के कारण शहतूत जैसा हो जाता है तुम भी तिजोरी जैसे कवन्ध राक्षस हो जाओगे।

शबरी ही है, जो भक्त का प्राण है। हृदय में प्रबल होकर भावना समर्पण को उभरती है और हर राह के कांटे बुहारने चल देती है। भक्त सचराचर की सेवा में रहता हुआ भी अकर्तापन के भाव का त्याग नहीं करता। क्यों? इसलिए कि काम करने वाली तो शबरी (भावना) है ! भक्त तो मात्र निमित्त है। शबरी नित्य प्रति ऋषियों के उठने से पूर्व ही सब राहों को बुहार देती थी। यज्ञ के लिए समिधा लाकर रख देती थी। हर राह, आंगन को लीप कर पुष्प बिखेर देती थी। कोई देख न पाता था।

श्रीराम एवं लक्ष्मण जी की हनुमान से भेंट होती है। हनुमान जी उनको ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव से भेंट कराते हैं, ऐसे मिलते हैं कि सदा-सदा के लिये समर्पित होने की प्रतीज्ञा कर बैठते हैं।

हनुमान जी अंजनी के पुत्र हैं जो पवन सुत कहाते हैं कथाकारों ने उन्हें शिव का अवतार माना है। श्री राम कथा में हनुमान जी का चरित उनकी राम भक्ति, शक्ति, बल, शौर्य, बुद्धि बल सभी उपमातीत है। आज असंख्यों कथायें, क्षेपक, दन्त कथायें उनके साथ जुड़ी हुई है। वैष्णव जन हनुमान जी की सेवा स्वयं अराध्य भगवान श्री रामचन्द्र से भी अधिक करते हैं। भक्त, भगवान से भी बड़ा होता है। कैसा भक्त ? हनुमान जैसा भक्त ! "हनु" अर्थात् ठुडडी तक जो संसार रूपी माया के दलदल में रहता हुआ भी एक भगवान श्री रामचन्द्र को तन-

मन-धन से स्वांसा समर्पित है। माया रूपी दल-दल उसे घेरे रखकर भी उसके भीतर प्रवेश नहीं पाती। उसके रोम-रोम में बस राम राम ही रमा है। कोई भी अवरोध उसकी समर्पित भक्ति तथा ईश्वरीय आदेश के पालन को बदल नहीं सकता। दल-दल में रहता हुआ भी उससे सर्वथा मुक्त, निश्चिन्त तथा हर क्षण को प्रभु की समर्पित सेवा में लगाये हैं। ऐसा भक्त ही प्रभु को प्रिय है। हनुमान जी भगवान श्री रामचन्द्र जी को अतिशय प्रिय है। वैष्णव भक्त की आत्मा श्रीराम हैं। प्राण, हनुमान हैं। ब्रम्ह ज्वाला जो जीवन दायनी, महाशक्ति हैं वे जानकी जी हैं। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में आत्मा को ही जीवन यज्ञ का अधिष्ठित देव माना है तथा आचार्य पद प्रदान किया है। दूसरे सूक्त में वायु की स्मृति है; प्राण वायु के रूप में। तीसरे सूक्त में ब्रम्ह ज्वालाओं का स्तुति-गान है। श्री राम कथा श्रुतियों का स्पष्टी करण है।

सुग्रीव के बड़े भाई बाली हैं। उनसे ही भयभीत होकर सुग्रीव ऋष्यमूक पर्वत पर छिपे हैं। बाली ने सुग्रीव की पत्नी को भी सुग्रीव के साथ नहीं जाने दिया है। बाली को वरदान है कि जो भी उससे लड़ने आवेगा उसका आधा बल पुनः बाली को प्राप्त होगा। इसलिए बाली अजेय है। भगवान श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव को वचन देते हैं कि वे ओट से बाली को मार देगा। श्रीराम की आड़ से, धोखे से बाली को मारने की बात क्यों करते हैं ? इसका आध्यात्मिक पक्ष क्या है ?

'बाली' जीव का मिथ्याभिमान है। 'अहंकार' ही यहां बाली के रूप में दर्शाया गया है। अहंकार को वरदान है कि जो उससे लड़ेगा अहंकार का बल दुगुना होता जावेगा। परन्तु बाली को श्राप भी है। जब भी बाली 'ऋष्यमूक' (ऋष्य=साधना तथा मूक=मौन) अर्थात् मौन साधना के पर्वत पर आवेगा स्वतः भस्म हो जावेगा। अहंकारी को कितना भी सहज होकर समझाया जावे उसका मिथ्याभिमान कुतर्क और अहंकार बढ़ता ही जावेगा। उससे 'मौन साधना' द्वारा ही बचा जा सकता है।

सुग्रीव (सु=सुन्दर आलौकिक, ग्रीव=गर्दन) अर्थात् सुन्दर गर्दन उसी की तो है जो सदा विनम्रता में झुकी हुई हैं। 'बाली' दम्भ है और सुग्रीव विनम्रता। प्रभु विनम्रता का ही साथ देते हैं।

सुग्रीव जाकर बाली को लड़ने के लिए बुलाता है। दोनों भाई भयंकर युद्ध करने लगते हैं। श्रीराम चन्द्र को दोनों समान लगते हैं इसलिए प्रथम बार वे 'बाली' को मार नहीं पाते हैं। सुग्रीव किसी प्रकार जान बचाकर भागते हैं।

देखा ! स्वयं ईश्वर भी 'दम्भ' और विनम्रता में भेद नहीं कर पाते हैं। बहुधा हमारी तथाकथित 'विनम्रता' हमारे दम्भ और मिथ्याभिमान का छलावा मात्र ही होती है। 'सुग्रीव' विनम्रता में झुकी गर्दन, तथा शिकार में झुकी चीते की गर्दन, बाह्य रूप में समान ही तो हैं। सावधान ! कहीं तुम सुग्रीव के स्थान पर बाली तो नहीं बन रहे। पुनः मिथ्याभिमानी से मौन-साधना में जाकर ही पिंड छुड़ाया जा सकता है।

भगवान श्रीरामचन्द्र ने ओट से अर्थात् परोक्ष से बाली को बाण मारा। इस घटना का ऐतिहासिक और आध्यात्मिक और दोनों स्तरों पर महर्षि बाल्मीकि ने बड़ा ही सुन्दर निर्वाह किया है। बाली और सुग्रीव द्वन्द युद्ध कर रहे हैं। ऐसे समय में छिप करके, पेड़ की ओट से भगवान श्री राम बाली को बाण मार कर धराशायी कर देते हैं। आहत बाली एक चट्टान की तरह धरती पर आ गिरता है और पुकार कर कहता है–'जिसने मुझे छिपकर बाण से मारा है वे मेरे सामने आये।'

भगवान श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण तथा हनुमान आदि सभी पेड़ों की ओट से निकल कर बाली के सामने आ गये। श्री रामचन्द्र को देखकर बाली क्रोध से तड़प उठा और बोला :–

'मर्यादा पुरूषोत्तम ! आपने मुझे छिपकर मारा, क्या यही आपकी मर्यादा है? मैं तो आपसे युद्ध भी नहीं कर रहा था ; तब भी आपने मुझे मारा क्यों ?'

इस प्रसंग को लगभग सभी रामायणकारों ने बड़े ही सुन्दर ढंग से निर्वाह किया है। भगवान बाली को उसके मर्यादाहीन जीवन तथा उसके द्वारा किये गये कुकृत्यों का आभास कराते हैं, उसको दण्ड देने के औचित्य को भी सिद्ध करते हैं। जिसे हठी बाली भी स्वीकारता है। परन्तु उसके मन में एक संदेह रह ही जाता है।

'मर्यादा पुरूषोत्तम! मैं जानता हूँ कि आपको मुझे दण्ड देने का पूरा अधिकार है ; मैं ये भी मानता हूँ, कि मैं पापियों में अग्रगण्य हूँ। परन्तु फिर भी प्रभु मेरे मन

में एक संदेह है; कि आपने मुझे एक राजा की तरह ललकार कर दण्ड क्यों नहीं दिया ? धोखे से छिपकर क्यों मारा ?'

'बाली ! मेरे लिए ऐसा ही करना उचित था, क्योंकि तू कभी एक बहादुर योद्धा की भांति नहीं लड़ा ; तूने कभी किसी को युद्ध में ललकार कर नहीं मारा, वरन् सभी को एक कायर की तरह तू ओट से ही मारता रहा । इसलिए मर्यादा यही कहती है कि तुझे भी ओट से ही मारा जाय ।'

भगवन् ये आप क्या कह रहे हैं! 'बाली तो सदा युद्ध ललकार कर ही लड़ा है?' बाली ने आश्चर्य से पूछा । भगवान ने उत्तर दिया ।

"बाली मैं तुम्हारे संदेह का विवारण करता हूँ, तुम्हें वर की प्राप्ति है–" "कि जो भी तुमसे युद्ध करेगा तुम उसके आधे बल को हर लोगे । इसलिए जिस किसी के साथ भी तुम युद्ध कर रहे थे, वो तुम्हारे ही द्वारा हारे हुए अपने ही आधे बल से लड़ रहा था । उसकी शक्तियां दो भागों में बंटकर स्वयं लड़ रहीं थीं । वह तुमसे कहाँ लड़ रहा था । जब भी तुमने अपने ही शक्ति से जूझते हुए उस योद्धा को मारा, बाली ! तुमने उसे वर की ओट से ही तो मारा । इसलिए मेरी मर्यादा थी कि तुमको ओट से मारना ! ओट से मारने वाले को ओट से ही मारा जाय ।"

बाली आश्वस्त हो गया । आत्मा की राह में भी यदि हम इस प्रसंग पर विचार करें । इसी घटना का सूक्ष्म अवलोकन करें, तो स्पष्ट है कि आज भी प्रत्येक दम्भी, मिथ्याभिमानी अपनी अंतर आत्मा के द्वारा ही तो मारा जाता है । आत्मा उसे उसके भीतर से ही तो ओट से मारती है । राम सचराचर में घट–घट वासी आत्मा होकर आज भी हर बाली को ओट से ही मारते हैं ।

दुसरे युद्ध में श्रीराम, बाली को मार देते हैं । सुग्रीव राजा घोषित होते हैं । तथा बाली के पुत्र अंगद (जिसके दहकते हुए अंग हो । "अंग" दः) युवराज सुशोभित होते हैं । "अहं" मिथ्याभिमान जब सुग्रीव अर्थात् विनम्रता का साथ पाता है तो अंगद् अर्थात् सर्वांग ज्योतिष्यों में परिणत होने वाली अद्भुत तपस्या "अंगद" का रूप धारण कर लेता है ।

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥१.१.६.

(यत् अंग) जिस अंग को (दाशुषे) जलाते हो अर्थात् तपाते हो, यज्ञ करते हो (त्वभग्ने) तुम हे अग्ने (भद्रं) उसका कल्याण (करिष्यसि) करते हो। (त्वेत्) आपकी (तत्) उस (सत्यम्) प्रकृति का (अंगिरा) अंग हो जाता है।

हनुमान, अंगद, जामवन्त तथा नाना वानर हर ओर जानकी जी की खोज में चल देते हैं।

नारायण हरि।

खोज

हनुमान, अंगद, जामवन्त आदि वानर यूथ जानकी जी की खोज में निरन्तर भूखे-प्यासे दक्षिण की ओर बढ़े जा रहे हैं। राह में जो असुर मिले उनको मार गिराया।

प्रभु के कारज लगे विचार ही वानर सेना के समान हैं। कुत्सित विचार असुर हैं। उत्तर सिर है दक्षिण शेष शरीर। सद्-विचार रूपी वानर समर्पिता भक्ति रूपी जानकी को खोजने चलें। राह में जो भी कुत्सित विचार रूपी असुर मिले उन्हें धराशायी करते चले। चित्रकूट (निज देह) से दण्डकारण्य (अर्न्तस्थित) फिर मन द्वारा समर्पिता भक्ति का अपहरण! क्यों ?सद्विचारों को पूर्ण परिपक्वता प्रदान करने हेतु तथा कुत्सित विचारों का अन्तिम रूप से विनाश करने हेतु ! गहरे पैठो भीतर अपने!

वानर भूखे-प्यासे भटकते हुए गुफा में प्रवेश करते हैं तो अद्भुत अलौकिक सुख का अनुभव करते हैं। एक बूढ़ी तपस्विनी ने उनका स्वागत किया तथा सरोवर में जल पीने तथा वृक्षों से फल खाने की अनुमति प्रदान की। पूछने पर उसने बताया कि इसे मय दानव ने बनाया था। जिसे इन्द्र ने मार कर अपने अधिकार में ले लिया तपस्विनी का नाम स्वयंप्रभा है। जो इन्द्र की अप्सरा हेमा की अनुपस्थिति में गुफा में रह रही है। तपस्विनी स्वयंप्रभा ने बताया कि कोई भी व्यक्ति जो इस गुफा में प्रवेश

पाता है। पुनः बाहर नहीं निकल सकता। परन्तु जो प्रभु के लिए ही कर्तव्यरत है वे ही बाहर जा सकते हैं।

सद्विचार रूपी वानरों ने ब्रम्ह-रन्ध्र रूपी गुफा में प्रवेश पाया है! वहाँ के रसीले अमृत फल तथा अमर जल का पान किया है जिससे वे शत्रु जयी हो सकें। जो ईश्वर के लिए कार्यरत विचार हैं वे इस गुफा में स्वयं प्रभा (अर्थात् जो स्वयं में तेजोमय है) से प्रदीप्त हो पुनः प्रकट हो जाते हैं परन्तु कुत्सित असुर विचार यदि प्रवेश पा भी जाये तो नष्ट हो जाते हैं।

स्वयं प्रभा ने सभी वानरों से आंख मूंदने को कहा। सबने ऐसा ही किया। थोड़ी देर बाद आंखें खुली तो सबने स्वयं को सुदूरदक्षिण में सागर के किनारे बैठा पाया।

सब उदास हो उठे। धरती तो समाप्त हो गई। जानकी जी का कहीं पता ही नहीं चला। अब क्या होगा ? सभी आत्महत्या की सोचने लगे। तभी वहां गिद्धराज जटायु का वड़ा भाई सम्पाति आया। उसने उन्हें बताया कि धरती अभी समाप्त नहीं हुई है। सागर के उस पार, जल के मध्य में, विशाल द्वीप-समूह हैं। वहाँ पर जानकी जी अशोक वाटिका में बैठी हैं। वहाँ रावण का राज्य है।

जहाँ धरती की सीमाएं समाप्त हो जायें उसके उस पार एक और धरती है! भीतर का संसार !

सागर अथाह ! दूसरा छोर न देता दिखलाई ! कौन करेगा पार ? चिन्ता निमग्न हैं वानर यूथ ! अब क्या हो ? सबने अपनी सामर्थ्य पर सन्देह व्यक्त किया। अन्त में बचे हनुमान ! हनुमान ने कहा कि मुझमें तो उतनी भी सामर्थ्य नहीं जितनी आप बखान चुके हैं। परन्तु मेरे प्रभु श्रीराम जी पूर्ण सामर्थ्यवान हैं। उन्हीं के कारज हूँ। इसलिए मेरी सामर्थ्य अनन्त हैं।

पड़ोसी लाला जी ने कथा सुनी। दूसरे दिन नदी पार जाना था। नाव वाले ने पैसे कुछ अधिक मांगे। लाला ने भी कहा कि मेरी कोई सामर्थ्य नहीं। परन्तु मेरे प्रभु राम पूर्ण सामर्थ्यवान हैं। लाला ने नदी पार करने के लिए छलांग लगा दी। धड़ाम से नदी में गिर पड़े। बहुत गोते खाये। संध्या को पुनः कथा में संशय

रखा कि लाला भी हनुमान की तरह क्यों नहीं उड़कर पार हुए ? उत्तर मिला, 'हनुमान तो प्रभु के कारज थे ! तू विषयी संसार के कारज था ।'

पवनसुत उड़े जा रहे हैं । नीचे लहराता अथाह-असीम सागर ! नेत्रों में श्रीराम लक्ष्मण जी की सलोनी मूर्ति सजाये हुए हनुमान जी वायु वेग से लंका की ओर उड़ रहे हैं । तभी सागर से सुरसा प्रकट हो गई । मुंह फाड़कर हनुमान जी को खाने दौड़ी । हनुमान जी ने अपना आकार बढ़ाया । सुरसा का मुंख उनके आकार से कई हजार गुना बड़ा हो गया । हनुमान जी ने अपना रूप अधि बढ़ाया । जितने विशाल रूप को हनुमान प्राप्त होते हैं सुरसा का मुंह उनसे कई गुना अधिक बढ़ जाता है। परम् बुद्धिमान श्री हनुमान जी मुस्कराते हैं । 'विस्तार द्वारा इसे नहीं जीत सकते ।' मन ही मन सोचते हैं । तुरन्त सूक्ष्म रूप धारण करके उसके मुंह से होकर निकल जाते हैं ।

आध्यात्मिक ज्ञान सुरसा का मुंह है । जो इसके उलझाव में फँसा सुरसा (सु=अलौकिक ; रसा=रस दायनी) के मुंह में ही समा गया । जिसने अध्यात्म ज्ञान में उद्देश्य को सूक्ष्म बनाकर प्रवेश किया ; वहीं पार हुआ । उसी ने वासनाओं की लंका जलाई ।

सुरसा से आशीर्वाद प्राप्त कर हनुमान जी लंका की ओर बढ़े जा रहे है । नीचे विषयी संसार है । सागर सा लहराता हुआ ।

मैनाक ने हनुमान से थोड़े विश्राम का अनुग्रह किया परन्तु पवन-सुत बढ़ते गये । कुल काल के उपरान्त उन्हें लगा कि वे आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं । आश्चर्य से चहुं ओर देखा तो पाया कि एक राक्षसी उनकी परछांई को निगल रही है जिसके कारण वे उसकी माया में फँसते जा रहे है । तत्क्षण हनुमान ने उसकी देह में प्रवेश किया और उसको चीर कर बाहर निकल गये ।

मेरा अतीत बनकर परछांई मेरे बढ़ते कदम रोक देती है । रे प्रभु की राह जाते योगी, सारे अतीत को भस्म कर दे !

नारायण हरि !

लंका में हनुमान

हनुमान जी ने समुद्र पार कर लिया है। त्रिकूट पर्वत के ऊपर से महा वैभवशाली लंका का अवलोकन कर रहे हैं। सूर्यदेव अस्ताचल की ओर झुकते जा रहे हैं। हनुमान जी रात्रि की प्रतीक्षा में हैं। ढलते सूरज की लाल किरणें जब उनके लाल शरीर पर पड़ती हैं तो वे प्रचण्ड–प्रलय ज्वाला सदृश्य दिखने लगते हैं।

सन्यासी का वस्त्र भी ज्वाला का प्रतीक है। अतीत की परछाईयां (स्मृतियां जो छाया मात्र शेष रह जाती है।) उसे भी उसी प्रकार मिटाना होता है जैसे हनुमान जी ने परछांई पकड़ने वाली राक्षसी को मारा था। श्रीराम–कथा सभी के लिए अमृतमय–सत्य –उपदेशात्मक ग्रन्थ है।

रात्रि गहन हो चुकी है। मदिरा पीते हाथ लंका वासियों के शिथिल होने लगे हैं। विषय–वासना, भोग–विलास में डूबी लंका धीरे–धीरे निद्रा निमग्न होती जा रही है। हनुमान जी प्रवेश द्वार की ओर बढ़ते हैं, तभी एक विशाल राक्षसी उनका रास्ता रोक लेती है। हनुमान जी के प्रहार से घायल होकर गिर पड़ती है। हनुमान जी सूक्ष्म रूप धारण करके नगर में प्रवेश करते हैं। जगह-जगह जानकी को खोजते हुए रावण के रंग महल में आते हैं, परन्तु जानकी जी उन्हें वहां भी नहीं मिलती। तब उनकी दृष्टि अशोक वाटिका नामक एक विशाल उद्यान पर पड़ती है। हनुमान जी अशोक वाटिका में उतर आते हैं। यहा पर उन्हें कृश काय, पीत–वस्त्र धारिणी, अहर्निश व्रती, ज्योति, जानकी जी के दर्शन प्राप्त होते हैं। हनुमान जी के नेत्र सजल हो उठते हैं।

सुबह हो चुकी है। हनुमान जी परिचय प्राप्त करने की युक्ति सोच रहे होते हैं तभी वहाँ रावण अपनी रानियों तथा दासियों के साथ आता है। हनुमान जी घने पत्तो में छिप जाते हैं।

रावण नाना प्रकार से अनुनय विनय द्वारा जानकी जी को फुसलाने का प्रयास करता है। नहीं मानती है, तो डराने तथा मारने की धमकी देता है। उससे भी उसे निराशा ही हाथ लगती है। खीजकर, लौट जाता है। त्रिजटा जी अन्य राक्षसियों को डांटकर अपने साथ ले जाती है। एकान्त पाकर हनुमान जी अपना परिचय जानकी जी को देते हैं। उन्हें श्रीरामचन्द्र द्वारा दी गयी अंगूठी प्रदान करते हैं तथा उनसे चूड़ामणि लेकर कुछ फलादि का सेवन करने हेतु चल देते हैं।

फल खाने के बहाने हनुमान जी सारी अशोक वाटिका उजाड़ देते हैं, तथा राक्षसों को मार डालते हैं। रावण के पुत्र अक्षय कुमार तथा नाना महारथी भी हनुमान के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होते हैं। लंका में कुहराम मच जाता है। तब इन्द्रजीत मेघनाथ हनुमान को ब्रम्हपाश में बांध लेते हैं। उन्हें रावण के सामने प्रस्तुत किया जाता है। हनुमान जी रावण से अपने आने का उद्देश्य बताते हैं तथा उसे समझाते हैं कि जानकी जी को श्रीरामचन्द्र जी को लौटाकर क्षमा मांगे।

कुपित होकर रावण श्री हनुमान जी की हत्या करना चाहता है, परन्तु विभीषण द्वारा समझाये जाने पर उनकी पूँछ को जलाकर भगा देने का आदेश करता है।

हनुमान जो अपनी पूंछ बढ़ाने लगते हैं। राक्षस आदि उनकी पूँछ पर कपास, कपड़ा और तेल लपेटने लगते हैं। फिर उनको बांध कर नगर में घुमाया जाता है और उनकी पूंछ में आग लगा दी जाती है। हनुमान जी रस्सियों से निकल जाते हैं और छतों से कूद-कूद कर सारी लंका को जलाकर राख बनाने लगते हैं। सारी लंका धू-धूकर जलने लगती है।

पूंछ को सागर में ठण्डा करके हनुमान जी पुन: जानकी जी के पास आते हैं। उनसे आज्ञा लेकर सागर पार करते अपने मित्रों के पास पहुँचते हैं। सबको जानकी जी से मिलने की तथा सारी घटनायें बताते हैं। सब अति प्रसन्न होते हैं तथा शीघ्र ही भगवान श्रीरामचन्द्र के पास पहुँचकर उन्हें शुभ सूचना देते हैं। भगवान श्रीराम चन्द्र, लक्ष्मण तथा सुग्रीव एक विशाल सेना लेकर लंका की ओर कूच करते हैं। इन सभी प्रसंगों का अति विस्तार पूर्ण वर्णन सभी कथाकारों ने किया है। बड़े ही मार्मिक, हृदयस्पर्शी घटनाक्रम हैं जिन्हें पढ़ते समय भावुक भक्त हृदय बारम्बार द्रवित हो उठता है। रो उठता है।

एक बार कथा में एक छिद्रान्वेशी भक्त ने अवरोध उत्पन्न कर दिया। पूछा— "हनुमान जी की पूंछ को नाप क्या थी ?"

"मित्र उसे नापने की सामर्थ्य तो रावण में भी नहीं थी। तुम हनुमान जी की ही पूँछ के पीछे क्यों पड़ गये। हम सब भी तो पूंछ के लिए तबाह हैं। हर कोई चाहता है कि उसकी पूंछ बढ़े। लोग उसको अधिक से अधिक पूंछे ! बड़े-बड़े नेता, मंत्री, धन्ना सेठ अपनी पूँछ के कारण क्या नहीं करते। जिसकी समाज में पूँछ गई, वह तो जीते जी मर गया। अपनी पूंछ की चिन्ता करो! काहे को भरी सभा में अपनी पूंछ गवां रहे हो !

नारायण हरि !

★

सेतु बन्धन

सागर के किनारे श्री रामचन्द्र जी सेना सहित पड़ाव डाले हुए हैं। तीन दिन व्यतीत हो चुके हैं। सागर पार कैसे हो ? हनुमान जी तो उड़कर चले गये थे और उड़कर लौट भी आये। परन्तु विशाल सैन्य समूह सागर कैसे पार करेंगे ? यहाँ कथाकारों में भिन्नता है। कुछ कथाकारों के अनुसार सागर में उठ आई पर्वत मालाओं के ऊपर पुल बांधा गया था जो आज के युग में भी इतने कम समय में असम्भव सा लगता है। कुछ कथाकारों की कल्पना है कि बड़े समुद्री जहाजों द्वारा सेना पार हुई पुन: तर्क पूर्ण नहीं लगता। इतने कम समय में इतने यानों का निर्माण तो पुल बनाने से भी कहीं असम्भव सा है। तुलसी तथा बहुत से कथाकार एक मत से इसे प्रभु श्रीरामचन्द्र की आलौकिक ईश्वरीय लीला मानते हैं। यदि ऐसा है तो कुछ भी असम्भव नहीं।

तीन दिन बीत चुके हैं। कोई उपाय नहीं सूझता है। सागर अवरोध बना हुआ है। क्यों न अग्निबाण द्वारा सागर को सुखा दिया जाय? श्री रामचन्द्र जी धनुष पर बाण का संधान करते हैं तो सागर में तहलका मच जाता है। सागर का देवता हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है। भगवान की स्तुति करता है। तथा जल को न सुखाने की प्रार्थना करता है। सागर भगवान श्री रामचन्द्र जी से प्रार्थना करता है कि नल और नील अभिशप्त हैं। उन्हें ऋषियों ने श्राप दिया था कि जिस पत्थर को वे छू देंगे वे हल्के होकर पानी में तैरने लगेंगे। इसलिए नल और नील पत्थरों द्वारा पुल का निर्माण करें। यहां सागर खल नायक का अभिनय कर रहा है। प्रभु की राह का अवरोध बना हुआ है। इसलिए स्तुति में खलवाद के अनुरूप ही वचन बोलता है।

"ढोल गवांर शूद्र पशु नारी ।
यह सब ताड़न के अधिकारी ॥"

ये चौपाई अवरोध बने सागर से विनय पूर्वक अपने लिये कहलायी गयी है। नाटक का सर्वमान्य सिद्धान्त भी यही है कि खलनायक समाज में व्याप्त खलवाद को उछाला जाय तथा नायक से उसका प्रतिवाद करा कर समाज में व्याप्त अज्ञान को दूर किया जाय। यहां नायक श्री रामचन्द्र शबरी के जूठे बेर खाते हैं, जो नारी भी हैं और शूद्र भी! शूद्र और गवाँर निषादों से नायक गले मिलते हैं। जानकी जी के ही

हठ के कारण जानकी का अपहरण हुआ है, परन्तु उसमें भी नायक श्रीराम दोषी स्वयं को ही मानते हैं। फिर भी इस चौपाई को लेकर राम चरित मानस के पन्ने फाड़कर लखनऊ विधान सभा में पैरों से कुचले गये। इसका औचित्य? क्या वे नहीं जानते कि सिद्धान्त का प्रतिपादन नायक से होता है? यदि खलनायक से समाज में व्याप्त खलवाद को नहीं उभाड़ा जायेगा तो समस्या का निराकरण कैसे होगा? लगता है कि मिथ्याभिमान एवं पूर्वाग्रहों से ग्रसित "मन" किसी अन्य का नहीं; अपना ही अपमान करता है। ऐसे लोग सहानुभूति के पात्र हैं?

हनुमान की देह लाल अंगार की सी है वे अग्निवेश सन्यास का प्रतीक हैं। सन्यास में तपा हुआ योगी मन को प्रभु के कारज उड़कर आ और जा सकता है। परन्तु सहज सांसारिक गृहस्थ भक्त? उसे तो दोनो किनारों को जोड़ने वाला पत्थर का पुल चाहिए; जिससे वह पार हो सके। पार उतारे सो पत्थर का पुल वस्तुतः मन्दिर में खड़ी प्रभु की प्रतिमा ही तो है। यही है पुल! कर ले भव सागर को पार! उस पार!

नल–नील और वानर समूहों ने देखते ही देखते पुल का निर्माण कर दिया है। सैन्य वाहिनी सागर के पार लंका को घेरनी लगी है। लंका में तहका मच गया है। भला सागर पर पुल?

अंगद जी दूत बनकर रावण को समझाने गये, परन्तु निराश लौट आये हैं। मिथ्याभिमानी माना नहीं है। उसके छोटे भाई विभीषण ने समझाना चाहा तो लात मार कर उसे भगा दिया। विभीषण भागकर श्रीरामचन्द्र की शरण में आ गया है।

भयंकर युद्ध छिड़ गया है। दोनों ओर से वीर, युद्ध करते वीर गति को प्राप्त हो रहे हैं। नित्य ही रावण अपने वीरों, मित्रों, स्वजनों को बलि चढ़ा रहा है। प्रत्येक सुबह उसकी सेना उत्साह से आगे बढ़ती है और सांझ पराजय का सन्देश सुनाती है। मेघनाथ की शक्ति से लक्ष्मण मुर्छित हो गये हैं। हनुमान जी पर्वत ही उठाकर ले आये हैं। लक्ष्मण जी को पुनः जीवन दान मिला है। युद्ध अपनी भयंकरता को प्राप्त है। मेघनाथ का सिर लक्ष्मण जी काट लाये हैं। रावण ने सुना है तो मूर्छित होकर गिर पड़ा है। मेघनाथ की पत्नी सुलोचना अपने पति के साथ सती होना

चाहती है। अपने श्वसुर दशानन रावण से प्रार्थना करती है कि उसके पति का सिर लक्ष्मण से मंगवा दें। रावण सुलोचना से कहता है कि वे स्वयं जाकर लक्ष्मण से अपने पति का सिर मांग लावे। सुलोचना पूछती हैं, "पिताजी जिसकी पत्नी का आप धोखे से अपहरण कर लाये हैं। वह क्या आपकी पुत्र वधू से वही व्यवहार न करेगा?"

"नहीं तुम निर्भय जाओ, "रावण उत्तर देता है," वे सुर नायक श्रीराम हैं। तुम्हारा सम्मान एक देवी की भांति ही होगा। सुर विचार धारा में नारी पूज्य है! असुर राज रावण जैसा प्रति व्यवहार वे कदापि न करेंगे।"

सुलोचना जाकर अपने पति का सिर लाती है। युद्ध भयंकरतम हो उठता है। अपने सभी बन्धु बान्धव सेनापतियों की मृत्यु के उपरान्त रावण भी रणक्षेत्र में वीर गति को प्राप्त होता है। लंका पराजित है। श्रीरामचन्द्र की हर ओर जय जयकार हो रही है। शेष सेनाओं ने आत्म समर्पण कर दिया है।

नारायण हरि!

मर्यादा-कथा

सप्त द्वीप पति असुरराज दशानन रावण के शव को लेकर मन्दोदरी बिलखती हुई चली गई है। प्रलय के ताँडव को गिद्ध और कौवे, लाशों को नोचते, भयानकतम रंग दे रहे हैं। युद्ध समाप्त हो चुका है! जो हारे, सो हारे! सो जीते, क्या वे सचमुच जीत गये?

सीता जी को लिवाने लक्ष्मण और विभीषण जी बहुत समय पूर्व जा चुके हैं। अब लौटते ही होंगे। राघवेन्द्र एक अन्तर्युद्ध में दहलाये हुए हैं। यह युद्ध कहीं रावण युद्ध से भी भयंकर है। आज प्रश्न एक सीता का नहीं है। पति के लिए पत्नी की समस्या की चर्चा नहीं है। वरन् उससे जुड़ा है सामाजिक, धार्मिक, वंशानुगत मर्यादा का विकराल प्रश्न?

श्री रामचन्द्र जी जानकी को स्वीकारें अथवा दूषित कहकर परित्याग कर दें?

श्रीराम को अपने और जानकी के हित में ही नहीं! मर्यादा, समाज, धर्म, संस्कृति और नारी के हित में भी सूक्ष्म निर्णय लेना होगा! जिस प्राण बल्लभा के

लिए हर क्षण तड़पे, सिसके ! भयंकर युद्ध लड़े ! आघात सहे ! क्या उसे स्वीकार कर पावेंगे ? ओह! ! मैं उस मन: स्थिति का वर्णन कैसे करूं ।

एक असुर द्वारा जबरन उठाई हुई अबला के प्रति समाज का, पति का धर्म और संस्कृति का, तथा पूर्ण मानवता का क्या व्यवहार होना चाहिए ? बात सिर्फ दो तक ही सीमित नहीं है, वरन् सम्पूर्ण मानवता की अग्नि परीक्षा के क्षण हैं । राघवेन्द्र! सोचो ! क्या निर्णय है तुम्हारा ?

क्या उसे दूषित कहकर त्यक्त कर दोगे ? अथवा इसको अंगीकार कर समाज का सामना करने का साहस है तुममें ?

आज अग्नि परीक्षा है तुम्हारी! लोक निन्दा, अपयश, व्यंग-कटाक्ष और समाज का उपेक्षित व्यवहार है एक ओर ! तो दूसरी ओर सत्य, न्याय, यज्ञ वेदी के सम्मुख संकल्पों की प्रतिष्ठा! सब कुछ! दांव पर लगा है! राघवेन्द्र! क्या निर्णय है तुम्हारा? ओह ! क्या हो ? क्या हो ??

बाहर से शान्त थिर गम्भीर ! भीतर भयंकर विचार-युद्ध का प्रलय ! राघवेन्द्र ! हे महान रघु के वंशज ! हे श्रेष्ठ भरत वंशी !! क्षण फिसल रहे हैं ! निर्णय के समीप हो ! बोलो ! तुम्हारी जानकी तुमसे मिलेगी अथवा अन्तिम रूप से त्यक्त होगी ? बोलो ! क्या करोगे ?

ठहरो !! प्रश्न मात्र जानकी का नहीं ! परम्परा का है ! यदि आज जानकी त्यक्त होगी तो कल कितनी ही निरीह अबलाओं को आत्म-दाह करना होगा ? क्या यह मानवीय होगा ? क्या यह धर्म का न्याय होगा ?

राघवेन्द्र को लग रहा है उनके सारी शरीर से अग्नि ज्वालायें प्रस्फुटित हो रही हैं ! रोम-रोम ज्वालामय हो उठा है । अग्नि परीक्षा के क्षण हैं । मर्यादा पुरूषोत्तम अग्नि परीक्षा में जल रहे हैं !

नारायण हरि !

जानकी मिलन

अशोक वाटिका शोक सन्तप्त है आज ! असुरराज रावण अन्तिम पराजय को प्राप्त होकर मृत्यु निद्रा की गोद में सदा के लिए सो गये हैं। करूण क्रन्दन! भय, आतंक, अनिश्चितता और सती होने की तैयारियों में उलझी रानियाँ!

एक पिघलता सा, उबलता सा दिन ! हर क्षण पहेली सा उलझता, हर सांस विचित्र अनजानी सी? टूटे तार ! फूटे साज ! छितराये नूपुर !! कोई किसी को पहचान नहीं रहा है।

लक्ष्मण जी ने जानकी जी के चरणों में सिर रख दिया है। अश्रु जल से उस परम तपस्विनी, कृश–काय के चरण धोने लगे हैं। लिवाने का आवाहन है उनमे।

जानकी स्तब्ध हैं ! मौन ! शिला सी ! जिस क्षणकी कल्पना में हर क्षण तपी ! आज वे क्षण ही असह रूप से भारी हो उठे हैं ! आह !! जिस सुखद मिलन की कल्पना उसे जिलाये रही ! जिस आस में साँस रूकी नहीं, दिल धड़कता रहा ! वे सुखद क्षण इतने पीड़ायुक्त हो उठे हैं।

जानकी !! तू उस महामानव का सामना कैसे करेगी ? क्या समाज उसे तुम्हारे साथ जीने देगा ? समाज उस पर कलंक और कीचड़ उछालेगा ! तेरा नाम लेकर उसे अपमानित करेगा ! क्या तुझे यह सब सहन होगा ? अपमान की पीड़ा से जब उसका मुख मण्डल बोझिल होगा ! क्या तू देख पावेगी ? महान रघु के वंशज क्या तेरे कारण लोक निन्दा को प्राप्त न होंगे ? जानकी ! जानकी !!

जानकी स्थिर हैं ! जिस क्षण के लिए, हर क्षण जीवित रहने की कामना बनी रही, वही क्षण अब जिन्दगी को झुठला देना चाहते हैं ! सागर के किनारे नाव डूबना चाहती है ! अग्नि-परीक्षा के मार्मिक क्षण हैं !

अर्न्तमन दहक रहा है, हा ! देव ! कितनी अभागिन हूँ मैं ! हे माँ दुर्गा !! हे प्रलय की ज्वाला ! मुझे शक्ति दो ! प्राणेश के श्री चरणों का स्पर्श लेकर मैं अग्नियों में स्वयं को समर्पित कर सकूं ! माँ शक्ति दो ! मैं अपना बलिदान देकर महान रघुवंश को लोक निन्दा से बचा सकूँ। माँ !! असुर राज ने मेरे जीने के सारे अधिकार नष्ट कर दिये हैं। अपने प्रभु के अन्तिम दर्शन का साहस दो मुझको।"

डोली चल दी है। त्रिजटा आदि बहुत–बहुत कुछ कहती रही हैं। जानकी को धुंधली-धुंधली सी स्मृति है। उसे तो बस इतना ही लगता रहा है कि उसका सारा शरीर दहकते अंगारों पर रखा हुआ है और सूखे उपलों सा उसका रोम–रोम जल रहा है। नेत्रों में अनायास प्राणेश के कितने–कितने रूप, भाव–भंगिमायें; अनियन्त्रित स्मृतियां ! बस यही सब कुछ तो ! एक ही चाह ! मात्र अन्तिम इच्छा प्राणेश तुम में विचार स्थिर हो। तुम्हें देखती ही रहूँ टकटकी लगाकर और तन ज्वालाओं में शेष हो जाय।

नारायण हरि !

अग्नि–परीक्षा

"जानकी। बाहर आओ।" चौंक उठी जानकी। ओह। राघवेन्द्र के शब्द। पर्दा उठाये राघवेन्द्र खड़े थे। जानकी अपलक उन्हें न जाने कितनी देर टकटकी बाँधकर देखती रह गई।

"जानकी तुमने कितना कष्ट सहा। अब दुःख के दिन समाप्त हो चुके हैं। उठो हम शीघ्र अयोध्या जा रहे हैं।

"राघवेन्द्र।" बस जानकी इतना ही तो कह पाई। नेत्र बरस उठे। उठी, बाहर आने को तो लड़खड़ा गई। राघवेन्द्र ने सहारा देना चाहा तो सर्वांग कांपकर रह गई। "राघवेन्द्र चौंके।

"जानकी ? क्या तुमने हम दोनों को क्षमा नहीं किया ?"

"नाथ !!!" जानकी पुनः फफक कर रो उठी। "इस पापिन का स्पर्श न करें। जिसे बांह से पकड़कर नीच असुर ने घसीटा हो नारायण ! वह आपके स्पर्श के योग्य नहीं है।"

"जानकी ! तुम्हारे स्पर्श से असुर के पाप ही नष्ट हो सकते हैं। तुम अग्नि के समान सदा पवित्र हो।"

'स्वामी ! भावुकता का त्याग करें। इस अभागिन को अग्नियों का वरण करने की कृपा पूर्वक आज्ञा प्रदान करें। आपने अपने नाम एवं कुल की मर्यादा के अनुरूप पतित रावण को दण्ड दिया है। आपकी मर्यादा भी यही थी। परन्तु हे स्वामी ! आप केवल प्रेम के वशीभूत होकर यश, अपयश का विचार किये बिना इस

अभागिन को अयोध्या चलने का आदेश कर रहे हैं। यह सम्भव नहीं है मेरा घर तो मेरे सम्मुख धधकती ज्वालायें हैं। प्राणेश। एक ही भिक्षा चाहती हूँ। एक ही चाह है। लपटों से आपको निहारती ही रहूँ। विचार आप में ही खड़ा रहे, फिर–फिर आपके चरणों की सेवा मिले !"......

"जानकी। ऐसा नहीं होगा। तुम अग्नियों का वरण नहीं।"......

"सूर्यकुल मणि। कृपा पूर्वक आज्ञा प्रदान करें। जानकी, महान रघुकुल का कलंक बनकर एक क्षण भी जीना नहीं चाहेगी। सब शेष हो चुका है स्वामी। ज्वाला के अतिरिक्त अब कुछ भी शेष नहीं है। ये ज्वालायें ही पापों का प्रायश्चित हैं। यही पावन गंगा है।"

राघवेन्द्र समझा रहे हैं परन्तु महान, जानकी ज्वालाओं का वरण करने को आतुर हैं। उन्होंने सच्चे मन से सबको क्षमा ही नहीं कर दिया हैं वरन् सभी विचारों का भी परि–त्याग कर एक "श्री राम" रूपी विचार में एकाग्र हो चुकी हैं। दूर लक्ष्मण जी एवं विभीषण जी आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े हैं। दृढ़ता पूर्वक जानकी ज्वालाओं की ओर बढ़ती हैं। राघवेन्द्र की अवाज भी मानों उन तक नहीं पहुँच रही है। वे लपटों में प्रवेश कर ही जाती हैं; राघवेन्द्र तत्क्षण उन्हें बल पूर्वक बाहर खींच लेते हैं। राघवेन्द्र की मुख मुद्रा शान्त है।

वाणी गम्भीर एवं स्थिर है, "जानकी। राघवेन्द्र मात्र प्रेम के वशीभूत होकर तुम्हें अग्नि-प्रवेश से नहीं मना कर रहे वरन् समाज, धर्म, मर्यादा और मानवता के हित में तुम्हें अग्नि–दाह के लिए रोक रहे हैं। जानकी। आज अकेली तुम ही नहीं जलोगी। युगों तक निरीह भोली अबलायें जलती रहेंगी। उस सारे पाप का कारण हम और तुम होगे।"......

"राघवेन्द्र! मैं कुछ सोच नहीं पा रही हूँ। मेरे कारण आप कलंकित हों। यह विचार ही असह है।" ....

"हमारे कारण युगों तक अबलायें; निरीह और निष्पाप जलती रहें। समाज एक गलत अमानवीय परम्परा को धारण करे। ऐसा भी तो असह है।"

"राघवेन्द्र ! मैं कुछ सोच नहीं पा रही हूँ। भ्रमित हूँ।"........

"जानकी ! मैं सत्य की राह पर हूँ। मेरा साथ दो।"........

"प्रभु ! एक वचन दो। जब कभी भी किसी ने मेरा नाम लेकर महान रघुवंश को अपमानित करना चाहा; आप तत्क्षण मेरा परित्याग कर देंगे।"

"यदि तुम चाहती हो तो मैं वचन देता हूँ। जानकी मुझे पूर्ण विश्वास है कि समाज हमारे द्वारा प्रतिपादित मर्यादा का पूर्ण सम्मान करेगा। राम स्वयं को समाज पर थोपना भी नहीं चाहेगा। यदि समाज हमारी मर्यादा को नहीं स्वीकारेगा तो राम तुम्हारे साथ ही समाज का भी त्याग करेगा।"

तभी ज्वालाओं से अग्नि देव प्रकट हुये। उनकी देह से सहस्त्र मणियों की कान्ति प्रस्फुटित हो रही थी। उन्होंने दोनों को सम्बोधित करके कहा, "जानकी ! तुम पवित्र एवं निष्पाप हो। तुम्हें मेरी अग्नियां कभी जला न पावेंगी ? हे राम! तुम सत्य हो ! मर्यादा–पुरूषोत्तम धरती तुम्हें सदा पुकारेगी।"

हे राम !

नारायण हरि !

श्री राम अवध में

श्री रामचन्द्र जी अवधेश सुशोभित हुए हैं। प्रजा आनन्द मग्न है। श्री भरत जी के सुख की सीमा कहां। पिछली पीड़ायें मिटती जा रही हैं। समय पुराने घाव भर गया है।

श्री रामचन्द्र ने लंका को जीतने के उपरान्त, उसका सिंहासन विभीषण को सौंप दिया था। भरत महान को, वरद संस्कृति के पुत्र, आधीनता में विश्वास नहीं करते। पूर्वी पाकिस्तान को जीतने के बाद भारतीय सेनायें बंगला देश की नई सरकार को बागडोर सौंपकर लौट आयी थी। किसी को पराधीन बनाने में वीरता नहीं है। निरीह, निरपराध, भोले पुरूषों को गुलाम बनाना भारत की संस्कृति में कायरता ही नहीं, महापाप है। परमेश्वर को दी गयी गाली के समान है। अबलाओं को जबरन पकड़कर वैश्या बनाकर बेचना अधर्म है। मनुष्यता से गिरा हुआ ईश्वर का आदेश नहीं हो सकता। वह तो शैतान की ही पूजा होगी। रामचन्द्र से आज स्वतन्त्र भारत देश की वर्तमान कथा, तक भारत देश के महान मूल्यों का ही पालन किया है। विश्व के दूसरे धर्मावलम्बी, असुरत्व से प्रेरित, तथाकथित ईश्वरवाद की बात तो करते ही रहे, परन्तु उनके गन्दे हाथ मानवता को गुलामी में जकड़ कर ईश्वर वाद का अपमान ही करते रहे। मनुष्यता को गुलाम बनाने वाले, ईश्वर और धर्म के हत्यारे ही तो हैं। गुलाम ईश्वर ही तो हो रहा था। काश! वे मनुष्य बन पाते और अपने अन्तर में झांक पाते!

समय पंख लगाये उड़ा जा रहा है। श्रीराम को पाकर सरयु के तट महक उठे हैं। तीन वर्ष बीत गये हैं। (यहां बहुत से कथाकारों ने समय नहीं दिया है। परन्तु अन्य ने अलग-अलग समय बताया है जो कि तीन वर्ष से सात वर्ष के भीतर ही है।) राजा राम की नगरो असीम सुख और आनन्द को प्राप्त है।

अभी पौ फटने को शेष है। पूरव में मोहक स्निग्ध छटा सी आभासित हो रही है। राघवेन्द्र जानकी जी के साथ प्रातः भ्रमण हेतु रथ पर निकले हैं। राघवेन्द्र स्वयं रथ हांक रहे हैं। जानकी जी उनसे रास ले लेती हैं। अब वे रथ हांकने लगी हैं। उनकी मोहक मुस्कान, नेत्रों में जगमग लहराते, प्रेम के मोतियों का अक्षय भण्डार। क्षण-क्षण रस बरस रहा है। जानकी जी गर्भवती हैं। मातृत्व उनके अंगों से

प्रस्फुटित होकर उनके सौंदर्य को सहस्त्र गुणा बढ़ा रहा है। रथ नगर की गलियों से निकलकर सरयु के तट पाने को बढ़ता जा रहा है। तभी – – –

"तुम समझती हो कि मैं तुम्हें घर में रख लूँगा ? नीच । रात भर किसके साथ रही ? बता ?"

"स्वामी मुझ पर दया करो। मैं निरपराध हूँ।"

"जा–जा । मैं राम नहीं जो तुमको घर में बसा लूं ।दुष्टे! निकल जा! "......

रथ रूक गया है। धोबी अपनी पत्नी को डांट रहा है। जानकी स्तब्ध खड़ी सुन रही है। उनके नेत्र छलछला आये हैं। राघवेन्द्र घोड़ों की रास उनसे लेकर रथ तेजी से आगे बढ़ा ले जाते हैं। परन्तु जो होना था, वह तो हो ही चुका है। गहन विषाद की छाया जानकी के चेहरे पर नाचने लगी है। दोनों मौन हैं। रथ आगे बढ़ता जा रहा है। दोनों के अन्तर में तूफान उठ रहा है। जानकी को उनके ही शब्द...... "एक वचन दो। जब भी कोई मेरा नाम लेकर महान रघुवंश को कलंकित करेगा ; आप तत्क्षण मेरा परित्याग"......

न जाने कितनी बार यह वाक्य दोनों के अन्तर्मन में गूंजते रहे हैं। मौन फिर मौन बनकर ही रह गया है। दोनों फिर आपस में कहां बोल पाये हैं।

राघवेन्द्र सारा दिन विचारों में ही खोये रहे हैं। "जानकी! काश! तुमने वचन की बात न की होती। मेरे बिना तुम कैसे जी पाओगी ? राघवेन्द्र। अब तुम क्या करोगे ? क्या अपने वचन से विमुख हो जाओगे ? फिर तुम यह भी क्यों भूलते हो कि तुम मात्र एक पति ही नहीं वरन् अयोध्या के सम्राट भी तो हो ? जब तुम जन-जन के सम्मान के अधिकारी हो, तो उनके संदेहों का उतना ही उत्तरदायित्व तुम पर भी तो है ? बोलो ? क्या निर्णय है तुम्हारा।

राघवेन्द्र विचारों में खोये बस टहल रहे हैं। बात सिर्फ एक धोबी की ही नहीं; वरन समाज के एक वर्ग ने श्री राम की मर्यादा को समाज के विपरीत माना है तथा वे काना-फूंसी करते रहे हैं। उनके मत से इस प्रकार की मर्यादा नारी को उच्छृंखल बनने का साहस देगी और समाज दूषित हो जावेगा।

जानकी की भी वही स्थिति है। "काश" ! राघवेन्द्र ! तुमने मुझे स्वयं को अग्नियों को समर्पित करने दिया होता! आज तूम इतने बड़े अपमान को तो न प्राप्त होते। रघु के महान वंशज ! तुम्हारी लोक निन्दा और अपमान का कारण मैं बनी। ओह······काश! राघवेन्द्र······तुम कुल की मर्यादा के अनुरूप आचरण कर पाते। देव! तुम अपने वचन को पूरा कर पाते। आह ! जानकी ! तेरे बिना राघवेन्द्र कितने उदास होंगे। महलों का सूनापन क्या उन्हें जीने देगा···जानकी·· तू भी क्या राघवेन्द्र के बिना जीवित रह पावेगी ?"

दिन यूं ही ढला है। रात और भी अधिक पीड़ा और व्यथा को लेकर उतर आयी है। राघवेन्द्र उद्यानों में रात भर टहलते रहे हैं और जानकी जगदम्बा के मन्दिर के ठण्डे फर्श पर। दोनों तड़प रहे हैं। दोनों व्याकुल हैं। दोनों एक दूसरे को सांत्वना देना चाहते है। परन्तु एक दूसरे का सामना करने का साहस दोनों में नहीं है।

और इन क्षणों का वर्णन साहस, अब इस सन्यासी में भी नहीं है।

हे राम !

नारायण हरि!

★

लक्ष्मण को आदेश

"लक्ष्मण। आज फिर, जानकी को वन जाना होगा। तुम उनको लेकर जाओ। महर्षि बालमीकि की कुटिया के समीप छोड़ देना। जब पूछें। ऐसा क्यों ? तो कह देना सम्राट राम का यही आदेश है।"

"भैया !! उनका अपराध ?" लक्ष्मण जी को मानो अपने कानों पर विश्वास ही न रहा हो।

"अपराध ?" राघवेन्द्र चौके। पुनः थिर गम्भीर होकर कहा, "जानकी का अपराध ? नहीं......राज दण्ड दिया गया है।" राघवेन्द्र ने कहा।

"क्या मैं सम्राट श्री राम से दण्ड के कारण को जानने की याचना कर सकता हूँ? अपराधी को उसका अपराध बताये बिना दण्ड घोषित करना तो अनुचित होगा।"

लक्ष्मण जी की वाणी में व्यंग का तीखापन है। राघवेन्द्र शान्त हैं।

"लक्ष्मण ! प्रजा ने मेरी मर्यादा में सन्देह प्रकट किया है। जन देश की अवहे-लना नहीं हो सकती। जानकी को मुझसे त्यक्त होकर तापस वनवासी जीवन ही बिताना होगा।"

"भैया......जिनकी अग्नि-परीक्षा हो चुकी है। जिन्हें स्वयं अग्निदेव ने प्रकट होकर वरद किया तथा जिस महान मर्यादा का स्वयं अग्निदेव ने अनुमोदन किया। जिस मर्यादा का आपने स्वयं प्रतिपादन किया है। आज आप उन्हीं को खण्डित करना चाहते हैं। क्या यह अनुचित नहीं है ? सिर्फ इसलिए कि कुछ प्रजाजनों ने उनमें अविश्वास।"......

"लक्ष्मण ! काश......मैं इस देश का सम्राट न होता और जानकी सम्राज्ञी न होती तो उनको वन नहीं जाना होता। जब जन-जन की आस्था और सम्मान के हम अधिकारी रहे हैं तो उनकी अनास्था का उत्तर देना भी तो हमारा कर्तव्य है। लक्ष्मण। जानकी को वन जाना ही होगा।"

'राघवेन्द्र जानकी तो तभी अग्नियों का सम्मानपूर्वक वरण करना चाहती थी। आपने ही उन्हें रोका था। आज जब जानकी परित्यक्ता होकर लोक निन्दा और जग हंसाई का कारण होगीं तो क्या यह आपका न्याय होगा ? आपके और रघुवंश के सम्मान के लिए क्या यह उचित होगा ? मैं आपकी आज्ञा का पालन नहीं करूँगा।

लक्ष्मण जी ने दृढ़ता पूर्वक कहा।

'लक्ष्मण......यह भाई राम की आज्ञा नहीं; सम्राट राम का आदेश है। राजाज्ञा की अवहेलना कदापि सहन न होगी।' राघवेन्द्र ने कहा।

राघवेन्द्र की मुखमुद्रा अति कठोर हो चुकी थी। प्रत्येक शब्द घन के प्रहार के समान कठोर था। लक्ष्मण जी सर्वांग कांप उठे। नेत्रों से अश्रु छलछला उठे।

'भैया ! अब मैं कुछ न कहूँगा। आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। भैया...... लक्ष्मण मर चुका।'

लक्ष्मण जी तेजी से घूमे और बाहर निकल आये। काश...... लक्ष्मण पलटकर देख पाये होते श्रीराम के विशाल नेत्रों में लहराते आंसुओं की घनघोर घटाओं को।

नारायण हरि !

★

जानकी वन गमन !

लक्ष्मण जी जब जानकी जी के पास गये तो लगा जैसे जानकी जी उन्हीं की प्रतीक्षा में तैयार बैठी हुई थीं। उनकी देह पर कोई भी आभूषण नहीं था। शान्त, गम्भीर मुख मुद्रा ! शान्त, स्थिर नेत्र ! संयत वाणी ! वे उठीं और लक्ष्मण के साथ चल दीं ! दोनों रथ पर बैठे। अभी प्रभात नहीं हुआ था। अन्धेरों को चीरता रथ नगर से बाहर चल दिया। जानकी ने कुछ भी न पूछा–कुछ भी तो न कहा, लक्ष्मण जी बाहर अन्धेरे की ओर मुंह किये सिसक उठे– माँ–आज मैं तुम्हें कहां लिए जा रहा हूँ? किसके सहारे........

कई स्थानों पर घोड़ों ने विश्राम लिया। जानकी निर्विकार भाव से मौन रहीं। लक्ष्मण जी चाहकर भी कुछ कहने का साहस न बटोर पाये। बालमीकि के आश्रम के समीप जानकी जी रथ से उतर पड़ीं। लक्ष्मण की धैर्य शक्ति समाप्त हो गई ! दौड़कर उनके चरणों में लिपट पड़े। फूट–फूट कर रोने लगे !

"माँ–" बस इतना ही तो कह पाये लक्ष्मण........

"लक्ष्मण–धैर्य धारण करो–महान क्षत्रिय इस प्रकार विचलित नहीं होते......" जानकी ने उनके सिर पर हाथ फेरते हुए समझाया।

"माँ–मैं सम्राट श्रीराम से कह आया हुँ कि लक्ष्मण मर चुका है मुझे अपने चरणों में स्थान दो–मैं लौटकर अयोध्या नहीं जाऊंगा........"

"नहीं लक्ष्मण–तुम ऐसा कदापि नहीं करोगे–लक्ष्मण–राघवेन्द्र को तुम्हारी अत्यधिक जरूरत है। उन्हें दण्ड मत दो–उनका हृदय खण्ड–खण्ड हो चुका है। उन्होंने, जो परम उचित था वही किया है। मेरे बिना उन्हें कितना कष्ट होगा–सूने महल उन्हें कितना सतावेंगे–सुबह सूनापन लिए जावेगी उनको, दिन राज–काज में किसी तरह काट लेंगे। परन्तु सांझ की खामोशी.....? नहीं लक्ष्मण नहीं–देखना–राघवेन्द्र कहीं टूट न जायें। लक्ष्मण उन्हें सहारा देना– बस–तुम अभी लौट जाओ–मेरे आदेश की अवहेलना न करो–यथा शीघ्र राघवेन्द्र व्याकुलता से तुम्हारी राह देखते होंगे–अब एक शब्द भी न कहो–चले जाओ लक्ष्मण–जानकी की सौगन्ध ..."

लक्ष्मण जी आँसुओं से महातपस्विनी के चरण धोते, हिचकियाँ लेते रथ पर बैठ गये हैं–रथ पलट कर चल दिया है। जानकी वन में खड़ी, धुंधले होते रथ को एकटक देखती रहीं। रथ ओझल हो गया–जानकी के नेत्र बरस उठे–वह सांझ वन की कितनी उदास थी–जानकी–तू कहां–कौन है? तेरा–सारा अतीत सिमट कर शून्य बन गया–वर्तमान मात्र एक निर्जन घनघोर वन–और भविष्य ? न जाने क्या हो–घने वन के समीप, गहराती विशाल गंगा–दूर दिये की टिमटिमाती लौ– महर्षि बालमीकि की कुटिया जानकी.....

★

नारायण हरि !

लक्ष्मण का लौटना

जानकी जी को वन में छोड़कर लक्ष्मण जी लौटकर आते हैं तो पाते हैं राम को टूटा हुआ– उजड़ा हुआ–हताश–दोनों भाई मौन हैं। लक्ष्मण जी सिर झुकाये खड़े हैं। राघवेन्द्र पूछने का साहस बटोर रहे हैं। दस–दस सहस्त्र असुरों को मारने वाले श्रीराम स्वयं में शक्ति और साहस का नितान्त अभाव पाते हैं।

लम्बी नीरवता को उनके शब्द भंग करते हैं।

"लक्ष्मण····· तुम जानकी को वन में अकेला छोड़ आये–उसने कुछ कहा ?"

"सम्राट श्रीराम के आदेश का सेवक ने पालन किया। जानकी ने बस इतना ही कहा कि लौटकर उनकी ही चरण सेवा करूं····· उन्होंने मेरी सेवा नहीं स्वीकारी। कहा–तुरन्त लौटकर जाओ–देखना······ उन्हें कोई कष्ट न हो······

'महान जानकी····"राघवेन्द्र ने गहरी निश्वास लेकर कहा·······

"परित्यक्ता ······लोक निन्दा की अधिकारिणी······राजदण्ड को प्राप्त······" लक्ष्मण ने व्यंग किया।

"नहीं लक्ष्मण···मैं दो धर्मों के बीच फंस गया था। एक ओर राष्ट्र का धर्म था और दूसरी ओर पति का धर्म···राम ने राष्ट्र धर्म की मर्यादा की रक्षा की है परन्तु पति धर्म से विमुख होकर–लक्ष्मण ··· अश्वमेघ यज्ञ की घोषणा करो······"

"यह सम्राट राम का आदेश है ?" लक्ष्मण ने कटाक्ष किया?

"नहीं लक्ष्मण ····यह एक भाग्यहीन, भाई की प्रार्थना है····· लक्ष्मण·· यह काटों का मुकुट अब सहन नहीं होता। अश्वमेघ यज्ञ की घोषणा करो···राम, इन महलों में नहीं रह पावेगा···लक्ष्मण ··· राम का गृहस्थ जीवन समाप्त हो चुका··· उस निष्पाप, तपस्विनी का सामना करने का साहस अब राम में नहीं है। सरयु के तट, अश्वमेघ यज्ञ की तैयारी करो······राम सरयु में प्रवेश करेगा–"

"भैया······" लक्ष्मण फूट–फूटकर रो पड़े।

"हां ! लक्ष्मण !! समाज ने राम की मर्यादा नहीं स्वीकारा। राम भी, स्वयं को समाज पर थोपना नहीं चाहा। यही इच्छा, राम की प्राण बल्लभा, जानकी की भी थी। महान जानकी...राम ने समाज के आदेश को स्वीकारा...... अपनी ही मर्यादा की बलि–वेदी पर, राम और जानकी ने स्वेच्छा से अपना बलिदान किया है। राम आज भी अपनी मर्यादा पर दृढ़ है–अटल है......समाज ने हमारी मर्यादा को अस्वीकार किया है। हम दोनों ने स्वयं को कायरता पूर्वक समाज पर थोपना भी नहीं चाहा है। हम दोनों अपनी मर्यादा के साथ समाज को छोड़ रहे हैं। समाज ने हमारी मर्यादा अस्वीकारी है...हम समाज को अस्वीकार करते हैं...... जाओ......अश्वमेघ यज्ञ की घोषणा करो–यह सिंहासन और मुकुट का राम त्याग करता हे.........सरयु के तट राम स्वयं को मिटाकर, सरयु के उस पार सन्यासी होगा.........

"भैया......" लक्ष्मण जी श्री राम के चरणों से लिपट कर बरस रहे हैं।

नारायण हरि !

★

जानकी-गंगा और बालमीकि

'माँ, गंगा...मुझे शरण दो... मां.. अब तुम्हीं सहारा हो...अभिशप्त परित्यक्ता को अपनी गोद में समेट लो माँ... राघवेन्द्र के बिना मैं जी नहीं भी सकती अग्नि-देव ने मुझे वरदान दिया है-उनकी ज्वालायें मुझे कभी न जलावेंगी–अब तो वरदान भी अभि-शाप बन गया है। मुझे वहां भी शान्ति नहीं, शरण न मिल पावेगी ! माँ–तुम ही दया करो-मुझे अपने अंक में समेट लो मां"

गंगा की उत्ताल लहरों के सम्मुख खड़ी मौन जानकी...अन्र्तमन से गंगा को मौन पीड़ा सुनाती; लहरों में खो जाने की अनुमति चाहती......

जानकी आगे बढ़ती हैं...आश्चर्य......लहरें पीछे को सिमटने लगती हैं–

"जानकी तुझे यहां भी शरण नहीं है–गंगा के अंग में भी तुझे स्थान नहीं है... अग्नि तुझे जलायेगी नहीं–गंगा तुझे अपने अंग में सुलायेगी नहीं–फिर क्या करेगी तू ? कहां जायेगी ? कौन है तेरा ?"

"देवि–तुम कौन हो–पवित्र गंगा ने मुझे समाधि में प्रकट होकर दर्शन दिये हैं और तुम्हारी रक्षा का आदेश किया है–"

चौककर, पीछे की ओर घुम गई जानकी...एक वृद्ध, श्वेत जटा–जूट धारी तापस......कौन हो सकते हैं ? तपस्या का दिव्य तेज, मणि सा प्रस्फुटित होता सम्पूर्ण शरीर पर ! ओह...महर्षि बाल्मीकि... मां गंगा के आदेश पर तुझे लेने आये हैं--

"महर्षि--" जानकी का गला रूंध गया।

"तुम कौन हो देवि--मुझे तुम, मेरे महाकाव्य की, नायिका सी लगती हो--श्री राम–कथा महाकाव्य की नायिका सी...देवि...तुम कौन हो ? क्यों आत्महत्या करना चाहती थी ?"

"महर्षि---मैं अभिशप्त नायिका ही हूँ--श्रीराम चन्द्र की परित्यक्ता–सीता-" जानकी फफक कर रो उठीं--

"महासती, परम पवित्र, अग्नि–देव द्वारा पूजित जानकी का परित्याग मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र द्वारा क्यों ?"

'प्रजाजनों ने उनकी मर्यादा को नहीं स्वीकारा है–राघवेन्द्र ने स्वयं को समाज पर थोपना भी नहीं चाहा है--"

"यह तो घनघोर अन्याय है ? क्या श्रीराम भी..."

"महर्षि-आप उनके लिए कुछ न कहेगें ? मैं सह न सकूंगी.. ओह..." जानकी मुंह ढांप कर रो पड़ी।

"क्षमा करें देवि--आवेश में अवश्य ही अनुचित कहने जा रहा था-श्री राम तो मेरे अराध्य हैं---आप आश्रम में पधारें--आप मेरी धर्मपुत्री बनकर आश्रम में रहें आप मातृत्व को प्राप्त हैं--ऐसी अवस्था में आत्महत्या तो जघन्य जपराध है...श्री राम चन्द्र की महान सन्तति से मानवता को वरद करने हेतु आपको जीना ही होगा।"

नारायण हरि !

मुनि वशिष्ठ का निर्णय

'गुरूदेव–रक्षा करो––राघवेन्द्र ने मुकुट और सिंहासन का परित्याग कर दिया है—अवधेश अश्वमेघ यज्ञ करते सरयु में समाने को आतुर हैं—'

लक्ष्मण जी वशिष्ठ मुनि के चरणों से लिपट कर बालकों की भांति फूट-फूटकर रो पड़े—वशिष्ठ जी चौंके––

'राघवेन्द्र !! ऐसा क्यों ? क्या सीता के प्रति उनमें विरक्ति उत्पन्न—'

'गुरूदेव––जानकी जी का उन्होंने परित्याग कर दिया। उनके आदेश से मैं मां जानकी को बाल्मीकि ऋषि की कुटिया के समीप छोड़कर––'

'लक्ष्मण–'

'जी गुरूदेव–राघवेन्द्र को मर्यादा को समाज के कुछ लोगों ने अस्वीकारा है–राघवेन्द्र ने स्वयं को समाज पर थोपना भी नहीं चाहा है। जानकी का परित्याग करने के उपरान्त वे स्वयं भी समाज से त्यक्त होकर–'

लक्ष्मण जी पूरी घटना वशिष्ठ जी को सुनाते हैं।

'लक्ष्मण–अवधेश को रोकने की सामर्थ्य अब किसी में नहीं है––'

'गुरूदेव–भाई राम ने क्या सुख उठाया ? मां सीता को क्या मिला–चौदह वर्ष का वनवास–वनवासी तापस जीवन––लौटे तो जीवन का सुखद ठहराव केवल तीन वर्ष–पुनः परित्यक्त हुई निष्पाप पवित्र जानकी–राघवेन्द्र समाते सरयु में–यह तो घनघोर अन्याय है–'

'महान पुरुष, देवता और अवतार सांसारिक सुख के लिए नहीं प्रकट होते हैं। लक्ष्मण-उनका जीवन संसार की पीड़ाओं को दूर करना ; उन्हें सत्य की राह दिखाना ; मर्यादाओं का प्रतिपदान करना और उन्हीं में लोप हो जाना मात्र ही होता है–राघवेन्द्र स्वयं नारायण का अवतार हैं–वे फलदार वृक्ष के समान हैं जिसे

लोग जितने पत्थर मारते हैं पेड़ उन्हें उतने ही अधिक फल देता है । स्वयं खाता है
पत्थरों की चोट असीम, असह पीड़ा-प्रत्युत्तर में पीड़ा देने वालों को देता है अपने
ही तन से प्रकट, अपने ही अंग, रसदार मीठे फल-'

'गुरूदेव-उन्हें कुछ काल के लिए ही रोके । हम सब अनाथ हो जावेंगे-उनके
बिना एक क्षण भो तो असह होगा-गुरूदेव-हम अभागों पर दया करे-'

'मैं प्रयत्न करूँगा ! भले ही ऐसा करना अनुचित ही हो । शीघ्र ही उनसे
मिलने के लिए आ रहा हूँ !'

लक्ष्मण जो जाने के कुछ ही काल उपरान्त ब्रम्हर्षि वशिष्ठ भी चल दिये ।
जब राघवेन्द्र के महल के समीप पहुँचे तो बाहर अयोध्या के गणमान्य नागरिकों,
विद्वानों, सभासदों को उदास सिर झुकाये बैठे देखा । वे सब राघवेन्द्र से अनुनय,
विनय कर चुके हैं परन्तु राघवेन्द्र ने कुछ भी सुनने से इन्कार कर दिया है । राज-
माताओं ने विनती की परन्तु वे अटल रहे ! कैकेई ने बहुत प्रकार से समझाना चाहा
है परन्तु राघवेन्द्र नहीं माने हैं । राघवेन्द्र के अटल निर्णय की सूचना सारे देश में
बिजली की तरह फैल गयी है । जिसने सुना है वहीं तड़प उठा है । जानकी के
परित्याग की बात सुनकर जनता स्तब्ध रह गई है ! जिसने वन के चौदह वर्ष
भय, आतंक, विछोह, पोड़ा और कांटों पर सो कर बिताये ; बेचारी तीन वर्ष भी
सुख के न जी पाई ! परित्यक्ता हुई !! हा देव !! क्या अनर्थ हो गया ! नारियां
अचेत हैं । चेतना लौटती है तो करुण क्रन्दन में !

वशिष्ठ जी राघवेन्द्र को समझाते हैं परन्तु वे नहीं मानते हैं । राघवेन्द्र का
कहना है कि वे अश्वमेघ यज्ञ के अधिकारी हैं । वे चौदह वर्ष का वनवास कर चुके
हैं । उन्हें तत्क्षण यज्ञ को अनुमति मिलनो चाहिए । वशिष्ठ जी व्यवस्था देते हैं कि
राजसूय यज्ञ के पूर्व का वनवास अमान्य है इसलिए तत्क्षण यज्ञ की अनुमति नहीं
मिल सकती । अन्त में वशिष्ठ जी निर्णय देते हैं कि राघवेन्द्र राजसूय यज्ञ के उपरान्त
ग्यारह वर्ष तक धर्म पूर्वक निमित्त होकर राज्य का संचालन करें । उसके उपरान्त
वे अश्वमेघ यज्ञ के अधिकारी हैं ।

नारायण हरि !

राजसूय यज्ञ !

राजसूय यज्ञ का धूमधाम से समापन हुआ है। 'राज' अर्थात् ज्योति तथा 'सूय' अर्थात् उत्पन्न करना। 'राजसूय' यज्ञ वानप्रस्थ से पूर्व का संकल्प यज्ञ है। इसका वर्णन महाभारत में भी आया है। इस यज्ञ का अर्थ राजाओं को आधीन करना अथवा अपनी श्रेंष्ठता की धाक जमाना (जैसा कि कालान्तर में विद्वान अर्थ लगाते रहे हैं। कदापि नहीं था।

'राजसूय' अर्थ है। राजपाट को मात्र निमित्त रूप से धारण करता मैं ज्योति को उत्पन्न करने वाली राह जा रहा हूँ। उसमें सभी राजाओं ऋषियो आदि को निमन्त्रण भेजने की प्रथा रही है। सभी राजाओं तथा प्रजाजनों के सम्मुख श्रीरामचन्द्र के तन के वस्त्राभूषण तक ब्राम्हणों को दान कर दिये हैं। जनता अश्रुपूर्ण नेत्रों से सब देख रही है। जिन्होंने वनवासी तापस जीवन चौदह वर्ष बिताया; वे पुनः ऐश्वर्य का त्याग कर वैराग्य को प्राप्त हो रहे हैं। प्रजाजन रो रहे हैं। वे उन लोगों को मन ही मन धिक्कार रहे हैं जिन्होंने मर्यादा पुरूषोत्तम की मर्यादा में सन्देह व्यक्त किया है। नगर की नारियां कह रही हैं कि वे महा अभागिन हैं। नारी मात्र के रक्षक तथा समाज में उन्हें सम्मानित एवं प्रतिष्ठित कराने वाले, राघवेन्द्र, आज जानकी का परित्याग कर, स्वयं भी समाज को विधिवत परित्यक्त करके जा रहे हैं। वे बिलख रही हैं। बारम्बार ऐसे समाज को धिक्कार रही हैं। प्रभु से प्रार्थना करती हैं कि प्रभु उन्हें भी धरती से उठा लें। इस समाज की घुटन और सड़ान्ध में वे एक क्षण भी नहीं जीना चाहती हैं।

राघवेन्द्र के शरीर पर पीताम्बर आचार्यों द्वारा ओढ़ाया जा रहा है। सारी प्रजा फूट-फूटकर रो पड़ी है। पीताम्बर वेशधारी श्री रामचन्द्र सभी ऋषियों को प्रणाम करते, सभी राजाओं को यथा अभिवादन करते गुरू वशिष्ठ के आश्रम में जा रहे हैं। राघवेन्द्र रनिवास, महल, ऐश्वर्य सब त्याग चले! राज्य संचालन का भार श्री भरत जी पर, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न पर छोड़ दिया है। राजा राम वैरागी हो गये।

उन दिनों गृहस्थ से उपराम होकर प्रत्येक व्यक्ति राजसूय यज्ञ करता वानप्रस्थ धर्म को धारण करता था। राघवेन्द्र के वैराग्य से दुःखी होकर बहुत सी प्रजा भी समय-असमय राजसूय यज्ञ करती वनवास व्रत धारण कर गयी है। सम्पूर्ण राज्य में कुहराम मच गया है।

भरत जी ने राज्य चिन्ह धारण करने से इन्कार कर दिया है। लक्ष्मण और शत्रुघ्न की भांति वे भी असह पीड़ा को प्राप्त हैं। एकान्त पाते ही नेत्र बरस उठते हैं। सावन–भादों की झड़ी लग जाती है।

श्री रामचन्द्र की प्रतिमा को उन्होंने मुकुट सहित सिंहासन पर बिठाया है। स्वयं उनके चरणों में ही बैठते राज्य को निमित्त होकर धारण करते तपस्या व्रती हैं।

राजसूय यज्ञ की सूचना देने जब लक्ष्मण जी मुनि बाल्मीकि की कुटिया पर गये थे तो रात्रि विश्राम वही किये थे। उसी रात्रि में जानकी पुत्र रत्न से वरद हुई थीं। पुत्र प्रजनन के कष्ट के साथ ही श्री रामचन्द्र के वैराग्य हेतु राजसूय यज्ञ की सूचना से उन्हें कितनी पीड़ा हुई थी ! उसकी कल्पना कौन कर सकता है। बार-बार अन्तः मन कराह उठता था। जानकी तेरे पुत्र का कैसा भाग्य है कि पिता का स्पर्श सुख भी न पा सकेगा कभी ! आह ! राघवेन्द्र ! तुम अपने ही पुत्र को कभी प्यार न कर पारोगे ! कभी गोद में लेकर न चूम पाओगे ! समाज की बलिवेदी पर मर्यादा के सहित तुम्हारे अबोध शिशु भी तो बलिदान हो गये, भोले अबोध निरपराध······फिर भी अपराधी से दण्डित ! रे समाज ! तेरा यही न्याय है।

मुनि वशिष्ठ के आश्रम में वैरागी श्रीराम ! योग वशिष्ठ सुनते ब्रम्हर्षि वशिष्ठ से ! बाल्मीकि के आश्रम में परित्यक्ता जानकी ! पितृ सुख से वंचित सन्तान को सीने से समेटे ! उदास ! हा ! राम !!

नारायण हरि !

अश्वमेध यज्ञ का स्वरूप

त्रेता युगीन ऐतिहासिक घटनाक्रम में संस्कृति की झलक के साथ, विशुद्ध आध्यात्मिक कथा निरन्तर आगे बढ़ती ऐतिहासिक क्रम के साथ ही समापन की ओर अग्रसर है।

मन ही दशरथ (दश + रथ) मन ही दशानन (दसों इन्द्रियां जब दस मुँह बनें) आत्मा श्री राम हैं, जो घट-घट वासी हैं। जैसे शबरी के झूठे बेर खाये थे; वैसे ही आत्मा होकर प्रत्येक जीवन की जूठन को रक्त–मांस, शक्ति, तेज से लौटाते, प्रभु श्रीराम प्रत्येक शबरी के झूठे बेर खाते...अब शबरी भूली राम को......

जब मन दशरथ न बना। वृत्तियां दशानन हुई! बुद्धि (प्रकृति) स्वयं मृग की वासनात्मक लिप्साओं में फँस बैठी। आत्मा श्री राम चल दिये ढूंढने स्वर्णमृग! आत्मा से छूटी देह, निर्जीव होकर आंगन में पड़ी थी। पांव हुए दक्षिण! चल दी लंका (श्मशान घाट) दशानन रावण के देश! मन दशानन, बनाकर अर्थी, बांध रस्सियों से, रथों (कन्धों) पर आरूढ़ उड़ाये लिए जा रहा दक्षिण! लंका! सागर के उस पार! घट फूट गये! मारे गये जटायु! लंका (श्मशान घाट) पहुँची है अर्थी! घेरकर बैठ गई हैं राक्षसियां, प्रेतनी और त्रिजटा (त्रिगुणात्मक वासनायें) ठहाके लगाता मन दशानन! आत्मा से छुड़ा लाया प्रकृति को! धरती की बेटी (देह) को! भयभीत कांपती सीता! आत्मा रूपी श्रीराम को पुकारती। तड़पती! सरयु (संस्कृति में सरयु का अर्थ वायु मण्डल तथा प्राण वायु भी है। देखें संस्कृत कौस्तुभ) के तट छूट गये! पार कर बैठी लक्ष्मण रेखा! लक्ष्मण रेखा? मर्यादा रेखा? तभी तो ले उड़ा रावण! लक्ष्मण रेखा! अदृश्य शाश्वत रेखा! इस पार राज्य आत्मा श्री राम का है। वे जीवन हैं! उस पार राज्य रावण का है जो ठण्डी अन्धेरी मौत है! मर्यादा लक्ष्मण रेखा की है! पार हुई

रेखा ! छूट गये सब मित्र स्वजन सारे ! आये हैं अर्थी [शव] के संग ! फिर भी
कितने दूर! उनकी शान्तवना आज अर्थी तक नहीं पहुँच सकती ! इसका भय, आतंक
उन तक नहीं पहुँच सकता ! मर्यादा रेखा की है ।

चिता की लकड़ियों पर आत्मा [श्रीराम] की विरह में, जली, भस्मी हुई
धरती की बेटी यह देह हमारी ! भस्मी ने पानी का संग किया ! जंगलों की अशोक
वाटिकाओं में भटक चली ! पुकारती हा राम ! हा राम !!

प्रत्येक पेड़ पौधों में व्याप्त आत्मा रूपी श्री राम प्रकट हो गये ! पराजित
हुई मृत्यु [रावण] ! भस्मी ने पानी का संग किया ! खाद बनी ! पेड़ों की जड़ों
ने ग्रहण किया । आत्म ज्वालाओं में यज्ञ हो पुनः अग्नि–परीक्षा द्वारा फल बनी !
एक सीता ! अनेक अग्नि–परीक्षा !

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः | अण्वीभिस्तना पूतासः ||१.३.४.

सूर्य की पुत्री धरा ने जब तेरा आवाहन किया, हे महान यज्ञ की ज्वाला ! पेड़ों
के गर्भ प्रज्जवलित हुई जब तू ! मेरे तन का कण–कण तेरी रश्मियों में पवित्र होने
लगा । तेरी कृपा से भटकती देह ! [मृत्यु रूपी रावण के अभिशप्त] के भस्मीकण
पुनः अन्न में लौट चले !

इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः | सुते दधिष्व नश्चनः ||१.३.६.

उसी अन्न को जब एक दम्पत्ति ने ग्रहण किया तो पुनः तुझमें ही यज्ञ हो ।
शिशु का रूप धारण करता अन्न, बन शिशु गर्भ रूपी क्षीर सागर से बाहर चल दिया।
अग्नि–परीक्षा ! अग्नि–परीक्षा !!

जीवन..........जड़ता..........विनाश

आत्मा..........प्रकृति..........माया

जड़ प्रकृति जब आत्मा का स्पर्श पाती हैं तो जीवन्त बालक का स्वरूप ग्रहण
करती है । आत्मा के विपरीत वासनात्मक जगत में भटकने लगती है तो पुनः आत्मा
से त्यक्त हो भस्मी का अम्बार बनती है ! आवागमन !

सीता (प्रकृति) धरती में समाती हैं तथा आत्मा सरयू (अनन्त वायुमण्डल) में विलीन हो जाते हैं ! पुनः प्रकृति लव और कुश (लव अन्न की बालियाँ और कुश में) पुत्रवती अर्थात् प्रकट होती हैं ! निरन्तर कथा ! अहर्निश कथा ! सर्वत्र !

वैष्णव और स्मार्त मनाते नवरात्र ! प्रत्येक दिन सामिग्री के साथ जलाते विषयी मन दशानन की प्रत्येक इन्द्रिय की वासना के अभिशाप ! दसवें दिन मनाते दशहरा ! हमने मन दशानन को 'हरा' (जितना)! जलाओ पुतला विषयान्ध मन! बनो दशरथ भजो राम ! राम !! राम !!

फिर आती है अमावस की काली अंधेरी रात''''''कालिमा ढूंढती अपने कलुषित बेटे दशानन रावण को ! भक्त मनाते दीपावली ! हर ओर दीप जलाओ''''''आत्म-ज्योतियों की विजय हुई है'''श्रीराम जीते हैं''''''जीवन ने मृत्यु पर विजय पाई है। भीतर-बाहर, हर ओर, जगमग दीप जलाओ''''''उदास है कालिमा''''''मुस्कराते दीपक''''''खिलखिलाती फुलझड़िया और अनार-अट्ठहास करते पटाखे''''''गगन में उठते अग्नि बाण''''' गाते जय-जय राम श्री राजा राम !!!

आओ मित्र, दशहरे के रावण के सामने खड़े हो--पूछो स्वयं से कहीं अपना ही पुतला तो नहीं जला रहे हो ? दस इन्द्रियों को यदि दस मुँह बना बैठे हो तो यह रावण का पुतला तुम्हारा भी तो प्रतीक है। हनुमान जलायेंगे तुम्हारे जीवन रूपी लंका को-तुम जलो-नित्य-ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, लोभ, अभाव, दुःख, चिन्ता की अग्नियों में-फिर एक दिन, चिता की लकड़ियों पर, दशहरे के रावण से धू-धू कर''''''

यदि दस इन्द्रियों रथ (लगाम लगाना, निग्रह करना) दशरथ बने हो तो देह हुई है 'अवध-दशरथ अवध के राज्य हैं-'अवध' अर्थात् जिसका कोई 'वध' न कर सके।

"जहाँ राम तहां अवध निवासू।"

जहां आत्मा रूपी श्रीराम हैं वहीं अवध अर्थात् मृत्यु नहीं है-जहां आत्मा रूपी श्रीराम हटे तहां अयोध्या भी समाप्त-आत्मा के हटते ही मृत्यु रूपी रावण के पंजे में यह देह रूपी धरती की बेटी है।

नारायण हरि!

अश्वमेध यज्ञ की तैयारी

अश्वमेध यज्ञ की तैयारियाँ शुरू हो गयी हैं। अश्वमेध यज्ञ (अ=रहित: श्व=अतीत, कल, मृत: मेघ=प्रवेश करना, व्याप्त होना) का अर्थ है अतीत अर्थात् मृत्यु से रहित अर्थात् नित्य सत्य रूपी आत्मा में प्रवेश करना। व्याप्त होना, आत्माद्वैत करना। वानप्रस्थ, फिर एक वर्ष का अज्ञातवास तब अश्वमेध यज्ञ करता सरयु में वास–सन्यास–आदि काल से चली आ रही परम्परायें--भारत–वासियों की संस्कृति–जिसने जीवन को यज्ञ माना–जीवन्त पाठशाला की संज्ञा दी। गुरूकुल का भोला ब्रह्मचर्य, युवावस्था का मादक गृहस्थ, समर्पित सेवाओं का वानप्रस्थ, स्वयं को तौलने का, अपना सत्य स्वयं खोजने का अज्ञातवास; फिर अश्वमेध यज्ञ, लहरों में वास, अतीत जीवन की इति श्री–लहरों के उस पार प्रकट होता एक अग्निवेश सन्यासी।

जब भी राजा (कोई भी, गृहस्थ) राजसूय यज्ञ करता था। उसके उपरान्त राजपाट आदि से विरक्त होकर वैराग्य का पीताम्बर धारी होता था। युवराज निमित्त होकर मन्त्रियों सहित राज्य संचालन करते थे। राजा स्वयं को अन्तिम सत्य में व्याप्त करने के लिए धर्म गुरू, सन्त, सन्यासी, ऋषि तथा सद्ग्रन्थों की सरस्वती को समर्पित हो जाता था।

युवराज के अभाव मे श्रीरामचन्द्र जी अपने अनुज, भरत जी को युवराज घोषित करना चाहते थे। परन्तु भरत जी नहीं माने और और स्वयं; भी श्री रामचन्द्र जी की प्रतिमा सिंहासन पर विराज कर, निमित्त मात्र राज्य भार सम्भालते हैं।

बारह वर्षों के वानप्रस्थ का विधान क्यों? इसलिए जिस भी कर्म का आप आचरण से त्याग करते हैं उसे मन, विचार और संस्कारों से लुप्त (त्यक्त) होने में इतना समय लग जाता है। जब तक विषय; चिन्तन, विचार और संस्कार से नहीं मिटा, आप उससे त्यक्त कहां हुये।

दूसरा कारण है, मन के साथ शरीर को बदलने में इतना समय लग ही जाता है। जब आप नियम–संयम तथा तपस्या का जीवन धारण करते हैं शरीर

स्वत: निरोग होता, निरोग मन का साथ देता पुनः नवीन हो उठता है। स्वस्थ शरीर और मन, ईश्वर प्राप्ति को समर्थ है।

तीसरा कारण है कि बिना समर्पित सेवा के तन का ऋण ही नहीं उतर पाया। वानप्रस्थ धर्म प्राणी मात्र को समर्पित निष्काम, निमित्त सेवा है।

एक वर्ष का अज्ञातवास स्वयं को जानने का है। परखने का है। क्योंकि इसके उपरान्त सारा खेल अग्नियों का है। ईश्वर को जानना ज्ञान का विषय है। ईश्वर के लिए ही, अन्तिम रूप से समर्पित हो जाना; एक ही ब्रम्ह में स्थित होना तपस्वी की उपलब्धि है।

एक ओर सूचना एवं निमन्त्रण जा रहे हैं। सन्त, ऋषि मुनि, सन्यासी, तापस, राजा सबको सूचना जा रही है। तपस्वियों को कृपा पूर्वक आदेश एवं आशीर्वाद के लिए निमन्त्रित करने की प्रथा सर्वमान्य प्रथा रही है।

सभी राजाओं को भी सूचना देने का जो भाव था। महाराज ! मैं चक्रवर्ती साम्राज्य (सन्यास) को प्राप्त होने जा रहा हूँ। अश्वमेध यज्ञ की तैयारियां आरम्भ हो चुकी हैं। आप कृपा पूर्वक साधुवाद हेतु पधारें। सम्भव है अतीत में राजा होकर हम आपस में युद्ध लड़े हों। सम्भव है आपके मन में मेरे प्रति कोई इच्छा, भाव, प्रतिशोध का संकल्प रहा हो। यदि ऐसा है तो आप पधारें। यज्ञ के उपरान्त आप मुझसे बदला न ले पावेंगे—मुझे मारकर भी न मार पावेंगे ! स्वयं मर जावेंगे—क्यों ? इसलिए; यज्ञ के उपरान्त में सन्यासी हूँ—चक्रवर्ती सम्राट हूँ—सब में एक ब्रम्ह देखूंगा—हत्यारे में भी ब्रम्ह ही देखूँगा—उस अवस्था में आप प्रतिशोध न ले पावेंगे।"

अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की परिक्रमा का पथ नियत कर दिया जाता था। सभी राजा अपनी सेना सहित आकर परिक्रमा पथ के समीप शिविर लगाते थे। जैसे कि आपने प्रयाग में कुम्भ के मेले में देखा है। सन्यासी, तापस, नगर में राजमहल के समीप ही ठहराये जाते थे। अन्य राज्यों के राजा नगर से दूर ही शिविर लगाते थे।

पर्णकुटी से दण्डधारी महाराज, पीत वस्त्र का परित्याग कर पुनः राजसी वस्त्र धारण करता अपने रंगमहल (जहां रानिया रहती हैं) में प्रवेश पाता था। रानियों को परम ब्रह्म का उपदेश करता, उनसे सन्यास हेतु अनुमति की प्रार्थना करता पुनः

और अतीत का प्रतीक दण्ड को अश्व पर स्थापित कर देता
बाहर निकलता था। और अतीत का प्रतीक दण्ड को अश्व पर स्थापित कर देता था। रानियां अश्व के सामने बिछ जाती थीं। वे जानती थी अश्व के जाने का अर्थ ? कल उनका वैधव्य होगा।

अश्व को लेकर महाराज रंगमहल के द्वार पर आते थे तो युवराज तथा अन्य राजकुमार उसको रोकने का प्रयास करते थे। क्योंकि वे जानते थे अश्व के आगे बढ़ने का अर्थ है ; कल वे पितृ विहीन होंगे ! महाराज उन्हें उपदेश करते अश्व सहित सभा–भवन में प्रवेश पाते थे। मन्त्री सदस्य उन्हें रूकने की प्रार्थना करते थे परन्तु अश्व लिए महाराज सिंह द्वार की ओर बढ़ते चले जाते थे। द्वार पर सन्यासी, ऋषिमुनि, तापस उनका रास्ता रोक कर खड़े हो जाते थे। वे कहते थे महाराज पहले हमारे प्रश्नों का उत्तर दो – हम जानना चाहते हैं तुम इस यज्ञ के अधिकारी हो ? वे नाना, वेद, वेदत्व, आत्मा, सृष्टि आदि के प्रश्न पूछते थे। महाराज उनका समुचित उत्तर देते थे। तब सन्यासी पुष्प वर्षा करते, साधुवाद देते मार्ग से हट जाते। अश्व द्वार को पार कर जाता।

सेनापति अश्व की डोर थाम लेता और महाराज पुनः पर्णकुटी को लौट जाते। अश्वमेध यज्ञ का अश्व दण्ड, छत्र, धारण किये, नगर की ओर बढने लगता। नगर-वासी, प्रजाजन पुष्प वर्षा करते जाते। सेनापति अपने अश्व पर बैठे उसके साथ-साथ उसकी लगाम थामे चलते थे। अश्व बढ़ता जाता नगर की सीमा से बाहर हो जाता। सेनापति के साथ सेना की टुकड़ी तथा घनिष्ठ मित्र राजा अपनी थोड़ी सेना के साथ अश्व के साथ अपने घोड़े दौड़ाने लगते। अश्वारोहियों का दल निरन्तर संख्या में बढ़ता जाता। जिस राजा के शिविर के पास से दल गुजरता वह राजा भी अपनी थोड़ी अश्वारोही सेना सहित उनके साथ हो जाते।

तभी एक शिविर के पास से जैसे ही अश्व निकलता ; उस शिविर के राजा उसे थाम लेते ? सब रूक जाते ! ऐसा क्यों हुआ ? देखा ! अरे ? इस राजा ने तो मृत्यु-तिलक ले रखा है। सब उसको समझाते कि अब इस भावना को त्याग ! अब तक कहां सो रहा था। अब तो वह मात्र सन्यासी है। यदि राजा मान जाते हैं तो मृत्यु तिलक पोंछ दिया जाता अन्यथा राजा को बाकी राजा ललकार कर मार देते। अश्व आगे बढ़ जाता। ऐसा सदा नहीं होता था। क्योंकि द्वेषी राजा यज्ञ में सम्मिलित होने आते ही नहीं थे। अश्व घोषित परिधि में ही दौड़ाया जाता था। यह यात्रा सूर्यास्त के उपरांँत तक राजमहल के पिछवाड़े तक अवश्य पहुँच जाती थी।

सेनापति अकेले गुप्त द्वार से महल में प्रवेश पाते । रानियों के सभा भवन में (मृतदेह) दण्ड को दोनों बाहों पर लिटाये रानियों के सम्मुख घुटने के बल बैठकर प्रार्थना करते :–

"यह महाराज (अमुक) का मृत शव है । आप रज शैय्या (बालू) पर इनके साथ शयन करें तथा प्रातः शव दाह हेतु शव संहिता यज्ञ शाला में पधारें !"

रानियां दण्ड रूपी मृत देह को ग्रहण करती और सेनापति उल्टे पांव लौट जाते । प्रातः रानियां राजकुमारों सहित शव (दण्ड) को लिए यज्ञशाला में पधारतीं । युवराज दाह संस्कार की पूर्ण विधि सम्पन्न कराते थे । श्वेत वस्त्र (समर्पण) में लिपटे महाराजा को, आचार्य आदेश करते कि वे अनुभूत करें कि वे स्वयं चिता पर जल रहे हैं । उनका सम्पूर्ण अतीत, उपलब्धियां, स्मृतियां जलकर शेष हो रही हैं ।

जैसे कोई व्यक्ति मर जाता है उसकी चिता जलती है । उपरान्त उसकी भस्मी नदी जल में प्रवाहित होती है । उसी प्रकार अतीत के महाराज (जिन्होंने अपना सम्पूर्ण अतीत चिता में जला दिया है) श्वेत वस्त्र में लिपटे (स्तंभ भस्मी स्वरूप) सरयु (जो भी नदी) में प्रवेश पाते हैं । आचार्य उनके श्वेत वस्त्र को पकड़ लेते हैं । शिखा एवं सूत्र विहीन महाराज (वस्त्र से अलग होते) निर्वस्त्र जल की धाराओं में समा जाते हैं । आचार्य श्वेत वस्त्र को, जो शेष रहता है रानियों को प्रदान करते हैं जिसे वे वैधव्य के रूप में ग्रहण करती हैं । उसी श्वेत वस्त्र को धारण करती वे धरती में समाती हैं । किले में ही खोदी गयी गुफा में तपस्या हेतु प्रवेश कर जाती हैं ।

नारायण हरि !

लव-कुश

वीरान रंग महल में श्रीरामचन्द्र ने प्रवेश किया है ! कौन रोकेगा उन्हें ? जानकी ! वह तो परित्यक्ता है ! कुछ मौन खड़े रहने के उपरान्त राघवेन्द्र चल दिये हैं। मानों मौन, मन ही मन जानकी से अनुमति माँगी हो। द्वार पर युवराज भी तो नहीं हैं ! बिलखते भाई हैं ! रोकने का भी ; किसमें साहस शेष है ? सब निष्प्राण से स्तब्ध मूक अश्रु बहाये जाते हैं ! हा !! अयोध्या से राजा राम जाते हैं।

मौन, निर्विकार, नीलाभ मणियों के प्रकाश से युक्त, श्रीरामचन्द्र सभागृह को पार करते अश्व सहित द्वार पर आते हैं। ऋषि, मुनि, तापस सभी को प्रणाम करते, सभी को विनम्र सहज सन्तुष्ट करते वे आगे बढ़ते हैं। लक्ष्मण जी अश्व की डोरी थाम लेते हैं। रामचन्द्र यज्ञ शाला की ओर बढ़ जाते हैं।

अयोध्या दुलहिन सी सजी है। परन्तु इस साज-सज्जा में असह पीड़ा भी छिपी नहीं है। सुन्दर वस्त्राभूषण से सजी प्रजा, बिलखती, तड़पती अश्व का स्वागत करती है। हाथ अश्व पर पुष्प वर्षा करते हैं। नेत्र सावन भादों से मूसलाधार बरसते हैं ! अचेत होकर सड़कों पर बिछती प्रजा ! अश्व नगर के बाहर हो गया है। सेना की छोटी सी टुकड़ी साथ में है। सभी राजा के साथ अश्व दौड़ाने लगे हैं! तभी!

दो किशोर बालकों ने आगे बढ़कर अश्व को रोक लिया है ! उनके माथे पर मृत्युतिलक है। लक्ष्मण जी स्तब्ध उन सुन्दर बालकों को देख रहे हैं ! भोले सुन्दर, ज्योतिर्मय, मोहक मुखड़े। विशाल निर्मल नेत्र ; गठा हुआ है शरीर ! भाल पर मृत्यु-तिलक ? सारे राजा और सैनिक अश्वारोही स्तब्ध हैं। भला बालकों का श्रीराम के प्रति प्रतिशोध कैसा ?

"पूज्य चरण ! हम दोनों भाई आपको प्रणाम करते हैं। हमारे नाम 'लव' और 'कुश' हैं। हमारी माता जनक सुता जी हैं। अश्वमेध यज्ञ के अश्व को हम नहीं छोड़ेंगे। पहले आप हमें न्याय दें। हमारे पिता राघवेन्द्र अश्वमेध यज्ञ के अधिकारी कैसे हो गये ? उन्हें सन्यास का अधिकार दिया किसने ? उन्होंने हमारे प्रति किस धर्म को धारण किया ? हमारी माता जानकी के प्रति क्या उन्होंने उचित धर्म का निर्वाह किया ? आप हमें न्याय दिये बिना अश्व न ले जा पावेंगे। आप चाहें तो हम निरीह बालकों का वध करके इस अश्व को ले जावें। अन्यथा भी तो इस अश्व के जाने का तात्पर्य हमारा पिता सुख से वंचित होना है ! हमारा वध ही तो है !"

लक्ष्मण जी के नेत्रों में अविरल अश्रुधारा प्रवाहित है। शरीर शिथिल होने लगा है। असह पीड़ा के आवेग को रोक सकने में असमर्थ लक्ष्मण जी मूर्छित होकर गिर पड़े हैं। शीघ्रता से राजा अश्वों से उतर उन्हें उठाने का प्रयास करते हैं। लक्ष्मण जी गहन मूर्छा को प्राप्त हो चुके हैं। सभी अश्वारोहियों के चेहरे इस हृदय विदारक दृश्य से भीग चुके हैं। गहन मूर्छा ने लक्ष्मण जी के मुख को निस्तेज सा बना दिया है।

शीघ्र सूचना भरत जी को पहुँचाई गयी है। शीघ्र ही भरत एवं शत्रुघ्न जी वहाँ पहुँचे हैं। बालकों को देखकर वे भी रो पड़े हैं। धीरे-धीरे लक्ष्मण जी सुधि को प्राप्त हो रहे हैं। 'लव' 'कुश' लक्ष्मण जी की मूर्छा से अत्यन्त दुखी हैं। सीपी की सी भोली प्यारी आँखों से आंसुओं की लड़ियाँ तो बरस रही हैं परन्तु अश्व छोड़ने को कतई तैयार नहीं है। सूचना श्रीराम तक पहुँचाई गई है। दोनों बालकों के सम्मुख सभी पराजित हैं। उन्हें न्याय मिलना चाहिए ! इसे कौन नहीं चाहता ! काश ! यह बालक ही रोक पाते श्रीराम को ! काश ! अवध को पुनः राजा राम मिलते।

जब महर्षि बालमीकि को अश्वमेध यज्ञ की सूचना मिली तो जानकी जी को बिना बताये वे "लव" और "कुश" को लेकर परिक्रमा पथ पर आ गये। उन्होंने ही दोनों बच्चों को सारा रहस्य बताकर अश्व पकड़ने को कहा था। जानकी जी को इसीलिए नहीं बताया था कि वे ऐसा कदापि न होने देतीं। बाद में जब उनको पता चला कि महर्षि दोनों बच्चों को लेकर परिक्रमा पथ पर गये हैं तो वे अधीर हो उठी और उनको ढूंढ़ती पीछे चल दीं।

जैसे ही राघवेन्द्र वहां पहुँचे। उनकी दृष्टि दोनों बच्चों पर पड़ी क्या श्री राम जान गये कि वे अपने ही......। निर्विकार भाव उनका अविचलित रहा। गम्भीर वाणी में उन्होंने दोनों बालकों से अश्व को छोड़ देने को कहा। उन्हें सम्मुख पाकर दोनों बालक स्तब्ध हो गये। न कुछ कह पाये! बस एक टक उन्हें देखते ही रह गये। उनके हाथ शिथिल होने लगे। पेड़ की ओट से महर्षि बाल्मीकि सब देख रहे थे। उन्हें लगा बालक अश्व को छोड़ देंगे। वे शीघ्रता से बाहर आये।

"श्री रामचन्द्र! ये दोनों बालक तुमसे न्याय की भीख चाहते हैं।"

"प्रणाम करता हूँ गुरूदेव! आप बतायें इन बालकों के साथ क्या अन्याय हुआ है??"

"इन्हें पितृ सुख से क्यों वंचित किया गया? इनका अपराध?"

"इसका उत्तर वे लोग ही दे सकते हैं गुरुदेव! जिन्होंने इन्हें पितृ सुख से वंचित किया है।"

"पितृ सुख से वंचित करने वाले स्वयं रामचन्द्र हैं! इन्हें न्याय दो!"

"इन्हें पितृ सुख से वंचित करने वाले मर्यादा पुरूषोत्तम श्री राम नहीं हैं। उन्होंने कभी किसी के साथ अन्याय नहीं किया।"

सब ने चौंककर देखा! सामने जानकी खड़ी थीं।

"महामुनि! आपको उचित नहीं था कि आप अश्व को बालकों से पकड़वाते!" जानकी जी कहतीं गई, "ऐसे समय में जब वे राजसूय यज्ञ के उपरान्त वानप्रस्थ तथा अज्ञातवास को धर्म पूर्वक धारण कर अश्वमेध यज्ञ को पूर्ण करने जा रहे थे। जिन पुलों को राघवेन्द्र पार करने के उपरान्त जला चुके हैं क्या वे अब लौट सकते हैं? आप स्वयं सन्यासी हैं! पुनः जिस न्याय की बात आप राघवेन्द्र से कहते हैं उसका उत्तर तो समाज को देना है। असुर द्वारा अपहृत और समाज द्वारा अपमानित, अपवित्र, त्यक्ता के पुत्रों को न्याय कैसा? महान रघुनन्दन ने समाज के आदेश का पालन किया है। न्याय की चर्चा का औचित्य क्या?"

सब मौन स्तब्ध खड़े हैं। नेत्रों से पीड़ा बह रही है। एक राम हैं जो निर्विकार हैं। जानकी जी आवेश में कहती जा रही हैं, "लव! कुश! अश्व को श्रद्धा पूर्वक छोड़ दो। भारत कुल श्रेष्ठ; रघुनन्दन, मर्यादा पुरूषोत्तम, करूणा के सागर महा

तपस्वी के चरणों में भक्ति पूर्वक प्रणाम करो ! जिन्होंने अपने सभी सुखों का मर्यादा हेतु बलिदान दिया है, उनकी चरण धूल माथ धरो ! हे रघुनन्दन ! यह बालक आपके चरणों में नतमस्तक हैं। आप इनके अपराध को क्षमा करें। यह दासी आप के चरणों में है। इसका प्रणाम स्वीकार करें।" जानकी जी धरती से लेठकर प्रणाम करती हैं।

"जानकी !!!" राघवेन्द्र बस इतना ही तो कह पाये !

'स्वामी ! मेरे कारण आपको कितने असह कष्ट हुये। परन्तु आपने सदा दोष स्वयं को दिया ! स्वर्ण मृग मैंने मांगा ! लक्ष्मण को अपशब्द कहकर मैंने आपके पीछे भेजा। परन्तु आपने और निष्पाप लक्ष्मण ने सदा स्वयं को ही दोषी कहा ! एक बार भी तो मुझे दोष न दिया। उत्तर में मैं अभागिन आपको क्या दे पाई ? लोकनिन्दा ! अपयश ! जिसे राघवेन्द्र की फूलों की शैय्या होना था वह सदा कांटों की सेज बनी। काँटों पर सोकर भी आपने कभी दोष न दिया ! स्वामी !! आप कितने महान हैं !" जानकी जी के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित है।

"जानकी !!"

"स्वामी ! महान कुल की मर्यादा के अनुरूप यज्ञ को अग्रसर हों ! प्रभु ! आशीर्वाद दें, विचार बस आप में; एकी भाव से स्थित हो। हर क्षण आप में ध्यानस्थ रहूँ ! शरीर धरती में समाया तपस्यालीन हो ! मन से आपके चरण निरन्तर धोती रहूँ !"

नारायण हरि !

सरयु--प्रवेश

"ॐ !लोमभ्यः स्वाहा! ॐ स्वाहा! ॐ स्वचे लोहिताय स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा ......मांसेभ्यः स्वाहा...... स्नायुभ्यः स्वाहा...... अस्थिभ्यः स्वाहा........."

हे राम! तुम जल रहे हो ! रोम जल रहा हैं ! त्वचा जल रही है ! मेदा, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा सब कुछ जल रहा है ! सर्वांग अग्नियों में शेष हो रहे हो तुम ! हे राम ! अपनी सम्पूर्ण उपलब्धियों सहित शेष हो रहे हो तुम !

सम्पूर्ण अतीत जलकर भस्म हो रहा है। मित्र, स्वजन, अपना पराया सब विचार शेष हो रहा है ! यह तुम्हारा अन्तकाल है !

सारी प्रजा तड़प रही है। बिलख रही है। सभी उस महा–मानव के दर्शन को व्याकुल हैं। आह ! फिर कहाँ देख पावेंगे उसको ! प्रत्येक हृदय व्याकुल तड़प रहा है ! कराह रहा है। मौन पुकारता, "हे मर्यादा पुरूषोत्तम ! हम तुम्हारी मर्यादा को स्वीकारते हैं ! तुम नहीं जाओ ! नहीं जाओ ! हे राम ! तुम्ही से अवध है–बिन तुम्हारे हमारा जीवन निस्सार है–व्यर्थ है–आह ! अब क्या हो सकता है ! समय तो निकल गया है–अब कुछ नहीं हो सकता–काश ! हम अपने प्यारे श्रीराम को रोक पाते।

वे विद्वान शास्त्री, जिन्होने श्रीराम की मर्यादा में सन्देह किया था; अपराधी से सिर झुकाये खड़े हैं। बालमीकि के संग लव–कुश को लेकर खड़ी तापस जानकी पर दृष्टि पड़ती है तो वे फूट–फूट कर रो उठते हैं। कल की साम्राज्ञी। श्रीरामचन्द्र की प्राणवल्लभा आज मात्र एक तपस्विनी, परित्यक्ता साधारण जन समूह में श्रीराम के अन्तिम दर्शन को आतुर कौन सहन कर पावेगा इस करूण दृश्य को-भोले सुन्दर सुकुमार बालक जो युवराज से सजे होने चाहिए थे। साधारण सूक्ष्म मात्र वस्त्र से तन ढके समाज से त्यक्त, अपमानित–समाज द्वारा घोषित अपराधी–रे समाज-बता, उनका अपराध क्या ? श्रीराम बल्लभा मात्र एक भिखारिन सी–उसके तेजस्वी पुत्र.........ओह !

साधारण प्रजा की भीड़ में खड़ी आतुर, प्रभु के दर्शन की प्यासी जानकी ! उदास, मोहक, सन्तप्त, भोले लव और कुश ! कितने खामोश! ! आचार्यो की वाणी बाहर कानों में पड़ रही है।

"ॐ ! लोमभ्य: स्वाहा !"

जनता का करूण क्रन्दन ! रानियां अचेत हैं। महामानव अन्तिम यात्रा को चल दिया है। जानकी सर्वांग सिहर उठी हैं। भोली उदास डबडबाई आँखों से बालक अपनी माता को देखते ! कितनी मर्मान्तिक पीड़ा है ! अन्तिम यात्रा पर पिता जा रहे हैं जिनका स्पर्श भी अभागे पुत्र न पा सके हैं। उपेक्षित, त्यक्त चिता की अग्नि देने के अधिकार से विहीन ! मात्र मूक दर्शक ! साधारण भीड़ में खड़े हुये !

श्वेत वस्त्र में लिपटे नीलाभ–मणियों की सी सुन्दर कान्ति के स्वामी श्रीराम चन्द्र बाहर आये हैं। कुहराम मच गया है। पुष्पों से, सरयु में तिरोहित होने चल दिये हैं। आसुओं से भीगो, बरसात असंख्यों आंखें, उनके अन्तिम दर्शन को उन पर स्थिर हो गई हैं। जा रहे हो महामानव! अन्तिम यात्रा पर! वीर पुरूष! तुमने स्वयं को समाज पर नहीं थोपा परन्तु असत्य, अन्याय के सम्मुख झुके भी नहीं! समाज ने तुम्हारी मर्यादा नहीं स्वीकारी! तुमने समाज के निर्णय को शिरोधार्य किया और अपनी महान मर्यादाओं के साथ समाज को त्याग चले! हे राम! फिर कभी होगा कोई ऐसा राम!

नेत्र स्थिर हैं! देखकर भी मात्र एक ब्रम्ह को देखते हुए! एको ब्रम्ह······ आचार्यों से घिरे वे निरन्तर सरयु के तट की ओर बढ़ते जा रहे हैं। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न! बच्चों की तरह फूट–फूट कर रो रहे हैं। कितने अचेत होकर गिर पड़े हैं। भीड़ में से जानकी ने, पुत्रों सहित दण्डवत प्रणाम किया है। नारी मात्र की पीड़ाओं को जानने वाला फिर कभी ऐसा होगा कोई?

श्वेत वस्त्र से लिपटी देह जल की धाराओं में प्रवेश कर गई है। आचार्यों ने, निरन्तर वेद मन्त्रों का उच्चारण करते हुये, श्वेत वस्त्र को थाम लिया है। वस्त्र खुलने लगा है। निर्वस्त्र देह जल की धाराओं में समा गई है। श्रीराम सरयु समाते हैं। भक्त मात्र के प्राण! श्रीराम जल की धाराओं में विलीन हो जाते हैं।

आचार्य वस्त्र लेकर लौट रहे हैं। वे श्रीभरत जी के सम्मुख वस्त्र लेकर खड़े हैं। मानों पूछ रहे हों इस वस्त्र को लेगा कौन? क्या जानकी, परित्यक्ता? पीड़ायें जन हृदयों को विदीर्ण कर गई हैं। करूण विलाप के अतिरिक्त कुछ सुनाई नहीं देता।

"भैया! मर्यादा पुरूषोत्तम श्री राम हमसे विदा हो गये! अब आप निर्णय दें?" लक्ष्मण जी कहते हैं। श्रीभरत चौकते हैं! आचार्यों के हाथ में पकड़े वस्त्र को देखते हैं। भीड़ में खड़ी जानकी की ओर लपकते हैं।

"माँ! आप आगे बढ़े! वस्त्र ग्रहण करें!" श्री भरत उनसे कहते है उनके नेत्रों से अविरल जल की धारायें प्रवाहित हैं।

"माँ — क्या कहा? क्या एक परित्यक्ता······"

जानकी जी मूर्छित होकर गिर पड़ी हैं। विलाप और चीखों से वातावरण द्रवित हो रहा है। भरत जी शीघ्र उन पर झुकते हैं। लक्ष्मण जी एवं शत्रुघ्न उनके साथ हैं। जल के छींटे दे रहे हैं। लक्ष्मण जी जानकी जी के पांव मल रहे हैं। धीरे-धीरे माँ जानकी को सुधि होती है।

मां ! अब तो आप ऐसा न ही कहें ! श्री राम द्वारा हम सब ही तो परित्यक्त हो गये–अब हम अभागों के सिर पर हाथ रखें ! हमारे पापों को क्षमा करें। आप से भी परित्यक्त होकर हम एक क्षण भी न जी पावेंगे ! हा ! राम हमें त्याग गये ! माँ ! आप दया करें !"

भरत जी फूट–फूट कर रो रहे हैं। कौन है जो स्थिर है ? न कोई ! वे सारे शास्त्री और विद्वान जानकी के सम्मुख दण्डवत भूमि पर पड़े हैं। मानों कह रहे हों। मर्यादा पुरूषोत्तम ही सत्य थे ! हमारे अपराध क्षमा करो, मां !

जानकी जी भयभीत हैं। वे आचार्यों की ओर देखती हैं। मानों पूंछ रही हों कि क्या एक परित्यक्ता वस्त्र ग्रहण करने की अधिकारिणी है। भय, विषाद, संकोच और अनिर्णय का मिला भाव उनके मुख मण्डल पर स्पष्ट है।

'माँ ! आप ही वस्त्र ग्रहण करने की अधिकारिणी हैं। वेद एवं शास्त्रों का यही मत है।' वे कहते हैं।

जानकी जी वस्त्र ग्रहण करती हैं। उर्मिला, माण्डवी तथा श्रुतिकीर्ति जी उनको घेर लेती हैं। जानकी मौन, एक टक जल धाराओं को देखती हैं जिनमें उनका सवस्व लोप हो चुका है। फिर वे यज्ञ कुटी में जाती है जहाँ वल्कल वस्त्र त्याग कर श्वेत-वस्त्र (जो वैधव्य का प्रतीक है) धारण करती हें। उपरान्त आचार्य पुनः यज्ञ शाला में आते हैं। वेदोच्चारण द्वारा जानकी जी द्वारा यज्ञ सम्पादित होता है। वे धरती में समाने को तैयार होती हैं। प्रजा एक बार फिर तड़प उठती है ! जानकी ! तूने क्या पाया ? चौदह वर्ष का वनवास-लंका की घोर यातनायें ! पुनः परित्यक्ता, तापस वल्कलधारी जीवन ! और अब ! सभी सुखों से शून्य होकर जा रही है धरती समाने ! जानकी ! इस निष्ठुर समाज ने तुझे क्या दिया। अब तू धरती के भीतर गुफा में, सभी सुखों का त्याग कर मात्र तपस्या करेगी। अपने बालकों को भी तो···

बेचारे लव–कुश ! पिता गये ! मातृ सुख से विहीन हो गये ! मर्यादा की बलि-वेदी पर……

जानकी जी बाहर आई हैं। लव–कुश दूर उदास खड़े देख रहे हैं। महर्षि बाल्मीकि उनके साथ हैं। जानकी जी सरयु के तट पर आती हैं। माँ सरयु की पूजा करती हैं। पुष्पांजलि अर्पित करती हैं आंसुओं से भीगी हुई ! सरयु शान्त हैं। स्थिर हैं ! कैसा रहस्यमयी मौन है!

जानकी जी, मांडवी, उर्मिला और श्रुतिकीर्ति के साथ जा रही हैं। लक्ष्मण जी के धैर्य के बाँध टूट गये हैं। लव और कुश को सीने से भींचकर पागलों की तरह वे कभी सरयु की ओर कभी ओझल होती जानकी को देख रहे हैं ढाहें मारकर रोते हुये।

नारायण हरि !

सरयु के तट

निर्वस्त्र देह सरयु के उस पार प्रकट हुई है। सन्यासियों ने गेरुए वस्त्र से उसे ढक लिया है। सारे अतीत को जलाकर,नाते-रिश्ते जलाकर, एक चिता में स्वयं भी जलकर; जल की धाराओं से नित्य स्वरूप प्रकट हुआ है। ज्वालाओं के वस्त्र से सुशोभित है। उसके अतीत को चर्चा अब नहीं कर सकते। अतीत की चर्चा महापाप है। उसको न कोई अतीत है–वे सदा वर्तमान है। अग्निवेश नित्य पुरुष है वह। चल दिया है जीवन की पद चिन्ह विहीन राहों पर। नितान्त अकेला……

कभी तीन जोड़ी पांव, चौदह वर्ष के वनवास को चले थे। संग धनुष–बाण चले थे। आज सिर्फ एक जोड़ी पांव हैं; न धनुष है न बाण हैं--"एको ब्रम्ह द्वितीयो नास्ति" सबमें एक ईश्वर ही हैं। यही मन्त्र है-

न मित्र–शत्रु का भेद है। न मेरे तेरे की बात है--न इच्छा है, न चाह है-बस एक प्रभु की राह है……

उस पार जाता सन्यासी ! उस ओर जा रही धरती में समाने एक नित्य तपस्विनी !

इस पार घाट पर भोले बालकों को सीने से भींचे फफक-फफक कर रोता निष्पाप, भक्त हृदय, समर्पित लक्ष्मण--हे राम--

सरयु के तट ; युग तुझे याद कर रोते हैं ! रोते रहेंगे--तेरी मर्यादाओं को दुहराते रहेंगे–मर्यादा पुरुषोत्तम–तू ही सत्य है ! हे घनश्याम–हे नीलाभ दीप्तियों के स्वामी ! शत–शत प्रणाम !

श्रोता मित्र ! तुमने पूछा है कि तू कौन ? रे सन्यासी ? मात्र परिचय है, न कोई सन्यासी–बस एक युगान्तर पापी ! जब भी सरयु के तट पाता हूँ शरीरी अथवा अशरीरी, उन्हीं के चरणों में बरस जाता हूँ ! युग खो देते हैं जब श्रीराम–फिर रूप भरता हूँ--अति पावन कथा सुनाता, पुनः उन्हीं कथा के अन्तरालों में खो जाता हूँ ! जन-जन को प्रणाम ! हे राम ! हे राम !!

नारायण हरि !

★

उपसंहार

भगवान श्री रामचन्द्र की कथा हमारे अन्तर्मन में उतर चुकी है। इस कथा में हमने स्वयं को डुबोकर बहुत-बहुत अमृत बटोरा है। उस युग के साथ भी मन से अद्वैत करने की कोशिश की है। कल्पना की आंखों से उन दृश्यों को अपने मानस में उतारा है। इस कथा के संग ही हम हर भाव में बहे हैं। इसका प्रत्येक घटनाक्रम हमें भिगोता रहा है, और हम इस पावन गंगा की धाराओं में निरन्तर बहते रहे हैं।

फिर भी कथा इतनी संक्षिप्त है कि मन में बहुत से संदेह बाकी रह गए हैं। इसका उत्तर भी हम इस कथा के कथाकार से जानना चाहते हैं।

लक्ष्मी जी तो सद्य सद्यवा हैं, फिर भी जानकी के रूप में वैधव्य की लीला और विछोह का नाटक क्यों ?

इसका उत्तर है :– कि महाविष्णु एक सहज नर-लीला में मनुष्य को, अपने नारायण स्वरूप को दिखाकर मनुष्य पर ही बीतने वाले घटनाक्रमों और विसंगतियों तथा उनके समाधान नर-लीला द्वारा स्पष्ट करते हैं। जानकी जी के रूप में मां भगवती प्रत्येक नारी के जीवन में घटने वाली घटनाओं को ही प्रदर्शित कर रही हैं। सारे पात्र महाविष्णु की ही विभूतियों के स्वरूप हैं। वे नाटक में जो कुछ दिखा रहे हैं। हमको सचेत करने के लिए हैं। महालक्ष्मी जी और भगवान महाविष्णु तो अजर-अमर, अविनाशी हैं। विछोह अथवा वैधव्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिए हमारे श्रोता मित्रों को भगवान श्रीराम की कथा में दोष न ढूंढ़कर कथा के उद्‌देश्य तक पहुँचना चाहिए। 'लीला' शब्द का अर्थ है, सत्य का नाटकीय प्रस्तुतीकरण।

लव-कुश काण्ड को लेकर हमारे मन में बहुत से संदेह विभिन्न कथाओं में उभरते रहे हैं। इन सभी संदेहों का इस कथा में निराकरण होते हुए भी, एक संदेह मन में बाकी रह जाता है। कि क्या भगवान राम ने जानकी की अग्नि परीक्षा ली थी, तथा क्या अपहरण से पूर्व जानकी जी अग्नि देवता के संरक्षण में चली गयी थीं तथा वहां एक 'डुप्लीकेट' जानकी जी प्रकट हो गयी थीं, जिसका अपहरण करके रावण ले गया था जैसा कि इस रामायण सीरियल में रामानन्द सागर ने दिखाया है।

इन संदेहों का उत्तर हम इस प्रकार देना चाहेंगे। रामानन्द सागर ने जो अग्नि में जानकी के समाने और डुप्लीकेट जानकी के अपहरण की जो कथा सुनाई है वह राम चरित मानस के अतिरिक्त कहीं भी नहीं है। यहां हम ये भी स्पष्ट कर देना चाहेंगे, कि तुलसी दास के मानस का काल मुस्लिम दासता के अन्तराल था। जो आज से तीन सौ कुछ वर्ष पूर्व है। ऐसा लगता है कि किसी विनम्र भक्त का, किसी नास्तिक विधर्मी ने इस बात को लेकर मजाक उड़ाया हो, कि तुम्हारी जानकी जी तो रावण के यहां रही हैं। इस व्यंग से बचने के लिए संभव है उन्होंने कुछ चौपाइयां

बनाकर लिख दी हों कि जानकी जी अग्नि में समा गयी और उनका निर्वाह कुछ चौपाइयों में अग्नि-परीक्षा के रूप में कर दिया हो। हमें भोजपत्रों पर लिखी हुई तुलसीकृत मानस (हस्त लिखित मानस) नहीं मिली है। घर-घर में जो मानस गायी जा रही थी उसी का बाद में संकलन हुआ। घरों में गाये जाने वाले मानस में भी जो हस्तलिखित मिली उनमें इन चौपाइयों का वर्णन ही नहीं था। लगता है कि एक व्यंग से बचने के लिए किसी भोले भक्त और धर्मानुरागी ने अपने ही बौद्धिक स्तर पर इन चौपाईयों को बढ़ा दिया हो।

जानकी जी महा लक्ष्मी जी का अवतार हैं। वे सचराचर की जननी हैं। रावण और कुम्भकरण को भी वह ही प्रकट करने वाली हैं। भला उनको रावण से भय कैसा ? पुनः रावण और कुम्भकरण महाविष्णु के पार्षद, जय और विजय हैं। ऐसी स्थिति में श्रीराम जो कि स्वयं महाविष्णु हैं, क्योंकर जानकी को अग्नि देवता के संरक्षण में देकर डुप्लीकेट जानकी रावण के पास भेजना चाहेंगे। जो कथा इस ग्रंथ के रूप में हमने आपको दी है वही मूल कथा है।

श्रीराम कथा में रावण-वध के कारण भगवान श्री राम मर्यादा पुरूषोत्तम नहीं कहलाते हैं। उनकी पितृ भक्ति, उनके मानवीय गुण, उनकी दिव्य शक्ति। सभी के प्रति उचित आचरण भी उन्हें मर्यादा पुरूषोत्तम की उपाधि नहीं प्रदर्शित करता। क्योंकि इस प्रकार की मर्यादा को समाज पहले से ही मानता चला आया है। किसी नयी मर्यादा के प्रति पादन से ही किसी नायक को मर्यादा पुरूषोत्तम की उपाधि प्रदान की जा सकती है। नारी के प्रति समाज का क्या धर्म होना चाहिए? एक असुर द्वारा अपहृत अबला के प्रति धर्म का क्या मर्यादित व्यवहार होना चाहिए ? उसे दूषित कहकर अस्वीकार करें अथवा ईश्वर होकर अंगीकार करें ? इस मर्यादा के सिंहासन में जगमगाते स्वरूप को लेकर उभरते श्रीराम को युगों ने मर्यादा पुरूषोत्तम श्रीराम के स्वरूप में अपनाया है।

अवध से जब चल दिये राम ! सरयु समा गये वह ! धरती में समा गयीं जानकी भी ! और रह गये लक्ष्मण, लव और कुश को सीने से लगाये हुए। तड़पते भरत और शत्रुघ्न और अवध सारा ! अवध अनाथ हो गया। राज सिंहासन पर

बैठने के लिए श्री भरत भी तैयार नहीं हुए। तब सारे अवध ने सरयु के तट पर एक गम्भीर प्रतिज्ञा करी ।

"हे मर्यादा पुरूषोत्तम श्री राम ! आप भले हमारा परित्याग कर गये, परन्तु अवध आपको कभी अपने से अलग नहीं करेगा । अब अवध का राजा कोई न होगा । राम और जानकी की मूर्ति ही सदा–सदा के लिए अवध के राज सिंहासन पर विराजेगी । हे मर्यादा पुरूषोत्तम! अब सिर्फ तुम्हारी मर्यादा के सहारे ही हम जियेगे। अवध के राजा और रानी सदा-सदा के लिए राम और जानकी होंगे । भक्त के घर में वे ही उनके पूजा के सिंहासन पर विराजेंगे । वे ही उनके मन के राज सिंहासन पर अमर होंगे । घर–घर उन्हीं की मूर्ति बैठाई जायेगी । अब मर्यादा जो उन्होंने प्रतिपादित की है वह मर्यादा ही गायी जायेगी ।"

इस मर्यादा कथा ने उन्हें मर्यादा पुरूषोत्तम का पद प्रदान किया । इसी प्रकार जब वे कृष्ण के रूप में प्रकट हुए । जो नीतियां उन्होंने प्रतिपादित की उसके कारण वे कृष्ण के रूप में, वह नीति पुरूषोत्तम कहलाए ।

रामानन्द जी अपनी रामायण में हर पात्र से जानकी जी स्वयं लक्ष्मी जी का अवतार तो बतलाते रहे हैं, परन्तु जब सीता–हरण की बात आयी तो लगता है कि वे भी इस बात को भूल गये कि मां जगदम्बा को रावण से डरने की कोई जरूरत नहीं थी । अग्नि देवता की रक्षा और संरक्षण देने वाली जगदम्बा को भी अग्नि देवता से संरक्षण की कोई जरूरत ही नहीं । लगता है रामानन्द जी को भी मां भवानी का वह रूप भूल गया और अपनी घरैतिन याद आ गयी कि मेरी घर वाली को अगर कोई रावण बन के उठा ले जाएगा । तो उसके लौटने पर मैं उसे जूठे बर्तन की तरह ही आग में तपाकर पवित्र करुँगा । उनके बौद्धिक स्तर को देखते हुए इस भोली भूल के लिए उन्हें क्षमा कर दिया जाना ही उचित है । शेष कथा को सीरियल के रुप में उन्होंने बहुत सुन्दर और मनोहारी दिखाया है । वे आशीर्वाद और बधाई के पात्र हैं ।

नारायण हरि !

"सनातन स्वामी ! श्री रामचन्द्र को हम क्या मानें कोरी कल्पना, राजा, अथवा परमेश्वर ?" विद्वानों ने पूछा।

सन्यासी ने उत्तर दिया –"श्री रामचन्द्र नाम का कोई भी व्यक्ति हमारे सामने नहीं है, न ही उनके वंशधर गद्दीधारी ही हैं। राम नाम तो अब सांचा बनकर रह गया है, जिसमें समाज को ढलना है। आप लोग ही बतायें आप समाज को क्या बनाना चाहते है ? कोरी कल्पना, राजा, योगी अथवा ईश्वर ?"

श्री स्वामी सनातन श्री

"ईश्वर !" उन्होंने उत्तर दिया। "तो फिर राम परमेश्वर ही रहने दो। साँचे को संकीर्ण मत करो। अन्यथा समाज भी उसमें ढलकर संकीर्णता और घुटन को प्राप्त होगा।" सन्यासी का सहज उत्तर था।

Postal Regn. No. LW/NP-584